प्रकाशक:—

श्री विद्यावती देवी

वाणी-मन्दिर प्रेस, छपरा।

प्रथम संस्करण, अप्रैल १९४८।

मुद्रक:—

श्री विद्यावती देवी

वाणी-मन्दिर प्रेस, छपरा

निवेदन

आलोचना का उद्देश्य साहित्य संबधी सत्य का उद्घाटन है। अन्ततः, वैदिक ऋषि के शब्दों में, सत्य की ही जय अर्थात् स्वीकृति होती है और सत्य से ही कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। इस लिए जो आलोचक सत्य को लक्ष्य बना कर व्यापृत नहीं होता, अथवा जो सत्य को ढकने की चेष्टा करता हैं, वह जातीय साहित्य और संस्कृति को तो क्षति पहुंचाता ही है, साथ ही अपने को हास्यास्पद बनाने के बीज भी बोता है। असत्य का आश्रय लेकर बड़ी से बड़ी प्रतिभा अपने को छोटा बना डालती है।

साहित्य का मानव संस्कृति और सभ्यता से घनिष्ठ सम्बन्ध है; वह मनुष्य को मूल्यांकन सिखाने का, उसमें जीवन सम्बन्धी-मूल्य-भावना जगाने का, प्रधान साधन है। अतः समाज के विचारकों द्वारा उसकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। असत् आलोचना श्रेष्ठ साहित्य की उपेक्षा और निकृष्ट साहित्य की प्रशंसा द्वारा दूषित साहित्य-सृष्टि को प्रोत्साहन देती है, जिसके फलस्वरूप महाप्राण साहित्य की सृष्टि में बाधा पड़ती है।

इन्हीं विचारणाओं ने मुझे प्रस्तुत निबंध लिखने को प्रेरित किया है। छायावाद का नाटकीय उत्थान-पतन हमारे साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण घटना है जिसे ठीक से समझना हमारी साहित्यिक प्रगति के लिए आवश्यक है। यह 'समझना' उत्तेजनापूर्ण निन्दा-स्तुति का पर्याय नहीं है। किसी साहित्य की निन्दा-स्तुति कर देना जितना सरल है, उसके गुण-दोषों को गम्भीरता से पकड़ना उतना ही कठिन; जहाँ पहली क्रिया क्षुद्र मनोवृत्ति द्वारा साध्य है, वहाँ दूसरा कार्य गम्भीर रसग्राहिता और मनन-शक्ति की अपेक्षा रखता है। और अन्त में दूसरी कोटि के प्रयत्न ही समाज और संस्कृति आगे बढ़ा सकते हैं।

प्रस्तुत लेखक ने महसूस किया है कि आज दिन हिन्दी में उच्चतम कोटि का साहित्य उत्पन्न न होने का एक महत्त्वपूर्ण कारण उच्च कोटि की आलोचना की कमी भी है। अधिकांश आलोचक वादाक्रान्त हैं, और वादों के कोलाहलभरे वातावरण में सत्य को स्पष्टता से देखना-सुनना कठिन हो गया है। जहाँ मुखर आलोचक

यहाँ इस पुस्तक की रचना तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल की छायावाद-संबन्धी धारणाओं के बारे में कुछ शब्द जोड़ना अपेक्षित है। प्रस्तुत लेखक ने कभी कालेज में हिन्दी नहीं पढ़ी और उसका शुक्ल जी की कृतियों से नियमित परिचय कुछ देर से हुआ। वस्तुतः सन् बयालीस से पहले वह विशुद्ध कवि था, आलोचना उतनी ही पढ़ी थी जितनी काशी विश्वविद्यालय के बी० ए० आनर्स के छात्रों को पढ़ाई जाती है। सन् बयालीस से उसके विशेष आलोचनात्मक अध्ययन और चिन्तन का प्रारंभ हुआ जिसका पहला फल यह पुस्तक थी। इस पुस्तक का अधिकांश (मध्यवर्ती निबन्ध) सन १९४५ के जून मास में लिखा गया था। उससे पहले मैं शुक्ल जी का "रहस्यवाद" सरसरी दृष्टि से पढ़ गया था और उससे विशेष प्रभावित नहीं हुआ था। बाद में प्रायः एक वर्ष बाद "चिन्तामणि" का दूसरा भाग पढ़ कर मुझे शुक्ल जी की काव्य-संबन्धी धारणाओं से विशेष परिचय हुआ और मैंने पाया कि कुछ बातों में मेरी धारणाएँ उनके काफी निकट हैं। तब मुझे लगा कि इस पुस्तक के कतिपय अंश शुक्ल जी की छायावाद-संबन्धी समीक्षाओं के भाष्यमात्र हैं।

शुक्लजी से कहाँ मेरा मतभेद है यह जागरूक पाठक 'विषय प्रवेश' तथा 'शुक्ल जी और छायावाद' परिशिष्ट से देख सकेंगे। संक्षेप में, एक ओर जहाँ मैं "काव्य में रहस्यवाद" की सैद्धान्तिक समीक्षा से सहमत नहीं हूँ वहाँ मैं शुक्ल जी की इस मान्यता को भी अस्वीकार करता हूँ कि छायावाद का महत्त्व मुख्यतः उसकी लाक्षणिक शैली में है। मैं मानता हूँ की सब प्रकार की शैलियाँ (और कल्पनाएँ) पाठक को अनुभूत यथार्थ तक पहुँचाने का साधन मात्र हैं और अन्ततः इस यथार्थ-संबन्धी अनुभूति का विस्तार और शक्ति ही साहित्यिक श्रेष्ठता का मानदण्ड है।

पिछले दो वर्षों में मेरी आलोचना-बुद्धि का निरन्तर परिष्कार होता रहा है, अतः यह अनिवार्य है कि आज मैं इस प्राथमिक प्रयास के विभिन्न पक्षों पर दिए हुए गौरव से सर्वत्र पूर्णतया सहमत न होऊँ। फिर भी पुस्तक के मुख्य कलेवर में हस्तक्षेप न तो संभव ही लगा, न

उतना जरूरी; उसकी प्रेरक रसानुभूति मुझे आज भी निर्दोष लगती है। पुस्तक की इस प्रमुख स्थापना पर कि, शैलीगत न्यूनताओं के अतिरिक्त– और ये दुर्बलताएँ असाधारण हैं—छायावाद की प्रधान कमजोरी उसका कल्पनाधिक्य है, मैं आज भी दृढ़ हूँ। यह कल्पनाधिक्य एक ओर जहाँ पाठक और वास्तविकता के बीच में आकर्षक व्यवधान उपस्थित कर देता है वहाँ इस बात का द्योतक भी है कि छायावादियों की यथार्थ की पकड़ अधूरी और नितान्त सीमित है। वे न तो बाह्य वास्तविकता का ही पूर्ण चित्र दे पाते है, न उपयुक्त मनोदशा को ही संक्रान्त कर पाते हैं। यह अन्तिम स्थिति, मनोदशाओं की धुँधली अनुभूति अथवा उपयुक्त मनोदशाओं का धुँधला, छायामय प्रकाशन, छायावादी गीत काव्य को निम्नश्रेणी की चीज बना देती है। यह समझना भूल है कि इस प्रकार की अभिव्यक्ति का कारण छायावादी अनुभूति की रहस्यात्मकता है—अन्य मनोदशाओं भाँति रहस्य-भावना का प्रकाश न भी निर्बल या सशक्त हो सकता है। उदाहरण के लिए गीताञ्जलि की He comes, comes, ever comes—पंक्ति में (और उस गीति में) एक सुकुमार रहस्य-भावना की विशद व्यञ्जना हुई है। पंत की 'न जाने, नक्षत्रों से कौन, निमंत्रण देता मुझ को मौन' पंक्तियाँ भी वैसी ही हैं। प्रस्तुत लेखक रहस्यभावना को अनुभूतिगत यथार्थ के बाहर की चीज नहीं समझता। वह सब प्रकार की बाह्य और आन्तरिक वास्तविकताओं को काव्य-साहित्य का विषय मानता है— शर्त यह है कि वे वास्तविकताएँ हों, वास्तविकता का भ्रम या बहाना नहीं। मेरा अनुमान है कि अन्ततः विज्ञान की भाँति कला का महत्त्व भी "यथार्थ की पकड़"—उसके विस्तार और गहराई—के पैमाने से ही नापा जा सकता है, भले ही विज्ञान के यथार्थ (तथ्य) और कला के यथार्थ (जीवन-मूल्य) में भेद हो। अन्ततः विज्ञान की भाँति कला भी मानवता की अस्तित्व-रक्षा और आत्म-प्रसार के लिए है, हलके खिलवाड़ के लिए नहीं।

हिन्दी में ऐसे आलोचकों की कमी है जो रस और संस्कृति दोनों की सम्मिलित दृष्टि से साहित्य को परखें। शुक्ल जी में रस-दृष्टि की

प्रधानता थी, प्रगतिवादी केवल सांस्कृतिक बल्कि उपयोगी पक्ष को लेकर चलते हैं। उभय-दृष्टि-संपन्न समीक्षकों के एक ऐसे दल की बड़ी आवश्यकता है जो एकांगी वादों से ऊपर रहें और वादों के झगड़े में मध्यस्थ बन सकें। ऐसे आलोचकों के पास जाते किसी कृती कलाकार को भय या आशंका न होगी। इस मत के आलोचकों से परिचय करने में प्रस्तुत लेखक को प्रसन्नता होगी।

पाठकों से अनुरोध है कि वे इस पुस्तक की छोटी पाद-टिप्पणियों को भी, जिनका सम्बन्ध साहित्य के सैद्धान्तिक पक्ष से है, ध्यान से पढ़ें। अनेक टिप्पणियाँ छपने से कुछ ही काल पहले जोड़ी गई हैं।

देवराज

अनुक्रम

नये राष्ट्र के

प्रबुद्ध पाठकों, आलोचकों और कवियों को

The disinterested study of poetry is something better and greater than this. It is, not to collapse into poetry, but to bring to it our strength, and not our strength merely, but our trained strength.........Particularly it is necessary that we should come to good poetry purged from the bad poetry which so easily besets us.

[H. W. Garrod in "Keats", p 11]

काव्य का तटस्थ अनुशीलन श्रेष्ठतर और महत्तर वस्तु है। उसका अर्थ है, कविता में अपनी निर्बलता लिए डूबना नहीं, बल्कि वहाँ (अनुशीलन में) अपनी शक्ति, शिक्षित-नियंत्रित शक्ति लाना......... यह और भी आवश्यक है कि हम श्रेष्ठ काव्य के निकट जाने से पहले अपने को निकृष्ट काव्य से, जो बड़ी सरलता से हमें पकड़ लेता है, मुक्त कर लें। [अध्यापक एच् ० डब्ल्यू० गैरोड]

× × × ×

Criticism, at best, is an ungrateful task and often a singularly barren one, for what natural liking at first approves cooler judgment frequently snatches away. If the development of literary taste deepens appreciation of greater and permanent writings (as, indisputably, it does) it also narrows or entirely closes certain channels of less exacting enjoyment.

[Alfred C. Ward in "Aspects of the Modern short story" p. 127]

कुल मिल कर समीक्षा एक नरन और प्रायः फल-शून्य प्रयास है, क्योंकि प्रारंभिक स्वाभाविक रुचि जिसे पसन्द करती है, सतर्क निर्णय-बुद्धि उसे खण्डित कर देती है। साहित्यिक रुचि का विकास जहाँ, निःसन्देह, श्रेष्ठ अमर कृतियों के रसास्वादन में वृद्धि करता है, वहाँ वह आनन्द के साधारण स्रोतों को संकीर्ण या बन्द भी करदेता है। [अल्फ्रेड सी० वार्ड]

विषय-प्रवेश

१

पिछले अनेक वर्षों से छायावाद के विरुद्ध असन्तोष प्रकट किया जा रहा है और अब प्रायः यह समझा जाता है कि हिन्दी काव्य में वह एक प्रेरणाशील शक्ति नहीं रह गया है। स्वयं छायावाद के नेताओं ने उसके पतन की घोषणा कर दी है, तथा उस पतन के कारणों का निर्देश करना भी शुरू कर दिया है। कई वर्ष हुए कि श्री इलाचन्द्र जोशी ने, जो स्वयं छायावादी कवि रह चुके हैं, 'विशाल भारत' में एक लेख दिया था जिसका शीर्षक था— 'छायावाद का विनाश क्यों हुआ?' ('विनाश' शब्द का प्रयोग करते समय जोशी जी शायद महादेवी जी को भूल गये थे।) 'आधुनिक कवि—२' की भूमिका में पन्त ने भी लिखा है कि—'छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा'—इत्यादि (पृ० १०) छायावाद के अन्यतम व्याख्याता श्री नगेन्द्र का भी विचार है कि 'स्थूल ने फिर एक बार सूक्ष्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया की है,'[१] अर्थात् छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया शुरू हो गई है। इन उद्गारों से सहज ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि छायावादी काव्य-शैली का ह्रास अथवा पतन हो गया है।

अवश्य ही कतिपय कवि अभी तक छायावाद को अपनाए हुए हैं किन्तु उन्हें प्रायः अपने अस्तित्व के मण्डन तथा अपनी काव्य-शैली के लिए सफाई देने की आवश्यकता महसूस होने लगी है। महादेवी जी की उत्तरोत्तर लम्बी होती जानेवाली भूमिकाएँ इसका प्रमाण हैं। छायावाद के समर्थक विचारकों में महादेवी जी का

१—आधुनिक हिन्दी साहित्य ('अभिनव भारती' ग्रन्थमाला), पृ० १३०।

अन्यतम स्थान है और यह उल्लेखनीय बात है कि उन्होंने जगह-जगह न केवल प्रतिपक्षी आलोचकों को "कन्सेशन" ही दिए हैं बल्कि उनके अभियोगों को भी स्वीकार कर लिया है। उदाहरण के लिए 'आधुनिक कवि—१' की भूमिका में वे लिखती हैं:—

(१) न वही काव्य हेय है जो अपनी साकारता के लिए केवल स्थूल और व्यक्त जगत पर आश्रित है और न वही जो अपनी सप्राणता के लिए रहस्यानुभूति पर। (द्वितीय संस्करण, पृ० १३—यहाँ स्थूल-विषयक काव्य को 'कन्सेशन' दिया गया है और द्विवेदी-युगीन-काव्य-विरोधी पक्षपात को छोड़ दिया गया है।)

२—छायावाद के कवि को एक नये सौन्दर्य-लोक में ही भावात्मक दृष्टिकोण मिला; जीवन में नहीं, इसी से वह अपूर्ण है। (पृ० १६—यहाँ इस अभियोग की स्वीकृति है कि छायावाद पलायन-वादी है।)

२

इस निबन्ध का प्रधान उद्देश्य छायावाद के पतन के कारणों का उद्घाटन या निरूपण करना है। निबन्ध के शीर्षक से ही यह प्रकट है कि हम छायावाद के पतन को एक तथ्य या वास्तविकता मानते हैं।

छायावादी काव्य से असन्तोष अथवा उसके पतन की अनेक व्याख्याएँ की गई हैं। श्री इलाचन्द्र जोशी ने, जहां तक मुझे याद है, छायावाद की स्त्रैणता को उसके विनाश के लिये उत्तरदायी ठहराया था। प्रगतिवादियों का कथन है कि इस पतन का कारण छायावाद की पलायन-प्रवृत्ति अर्थात् समाज और सभ्यता के

नव-निर्माण से विमुखता और उसकी खराबियों से बचने के लिए स्वप्न या कल्पना-लोक में भागने की उत्सुकता थी। प्रगतिवादी कवियों के जागरूक नेता पन्त का कहना है कि 'छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास, भविष्य के लिए उपयोगी, नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रह कर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।' (आधुनिक कवि २, भूमिका)

ऊपर की व्याख्याओं में यह मान लिया गया है कि छायावाद के पतन का कारण उसका विषय था। यदि छायावादी काव्य समाज और सभ्यता से तटस्थ न होता, यदि वह प्रकृति, नारी और अपरोक्ष प्रियतम के प्रति ही आत्म-निवेदन न करता रहता, तो उसका पतन न होता। उससे असन्तोष होने का मुख्य कारण उसका गलत विषयों में उलझे रहना था।

इसके विपरीत महादेवीजी का कथन है कि 'काव्य की उत्कृष्टता किसी विशेष विषय पर निर्भर नही; उसके लिए हमारे हृदय को ऐसा पारस होना चाहिए जो सबको अपने स्पर्शमात्र से सोना कर दे,'[1] और 'जब कोई कविता काव्य कला की सर्वमान्य कसौटी पर नहीं कसी जा सकती, तब उसका कारण विषय-विशेष न होकर कवि की असमर्थता ही रहती है।'[2]

हम महादेवी जी के, तथा क्रोचे के भी, इस मन्तव्य से सहमत नहीं कि उत्कृष्ट काव्य का विषय कुछ भी हो सकता है—हमारा विश्वास है कि सिगरेट के धुँए की अपेक्षा बुद्ध के जीवन पर उत्तम महाकाव्य लिखे जाने की सम्भावना अधिक है--फिर भी हम प्रगति-

---

१—यामा, पृ० सात।

वादियों की अपेक्षा महादेवी जी के मत को ज़्यादा ठीक समझते हैं। प्रगतिवाद की मान्यता है कि क्योंकि कवि एक सामाजिक प्राणी है इसलिये उसकी काव्य-सृष्टि को भी सामाजिक सार्थकतावाली होना चाहिये। हम इस बंधन को पूर्णतया स्वीकार नहीं करते। हमारे विचार में मनुष्य का जीवन, काफी हद तक सामाजिक होते हुए भी, वैयक्तिक चेतना एवं परिवार के बाहर के सामाजिक सम्बन्धों में परिशेष [Exhaust] नहीं हो जाता। जिस समय एक व्यक्ति बगीचे में खिले गुलाब का सौन्दर्य देखकर मुग्ध होता है, अथवा अपनी प्रेयसी से प्रेमालाप करता है, जब एक गणितज्ञ एकान्त में बैठकर किसी समीकरण [Equation] का हल सोचता है अथवा कोई दार्शनिक भ्रम की विभिन्न व्याख्याओं के सम्बन्ध में विचार करता है, तब यह कहना कि उनके व्यापार सामाजिक हैं, वैयक्तिक नहीं, उचित नहीं जान पड़ेगा। तर्क के लिये कहा जा सकता है कि नर-नारी के प्रणय का सामाजिक फल होता है--अर्थात शिशु, और गणितज्ञ के चिन्तन का भी सामाजिक महत्व है; किन्तु इस प्रकार के परिणाम की स्वयं उन व्यक्तियों में चेतना नहीं होती। इसी भांति कवि का भी अपनी हृदयगत भावनाओं की अभिव्यक्ति के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता। वस्तुतः इस प्रकार की भावनाएं गीतिकाव्य का प्रधान विषय हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मानव व्यक्तित्व का यह आन्तरिक पक्ष भी समाज के सांस्कृतिक वातावरण में ही निर्मित एवं पुष्ट होता है; किन्तु फिर भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि हमारी सभी प्रिय भावनाओं का का समाज की राजनैतिक-आर्थिक व्यवस्था से सीधा सम्बन्ध नहीं होता।

नन्द की यशोदा अथवा प्रत्येक माता की जो अपने पुत्र के प्रति

भावना होती है वह, मानवता की दृष्टि से, निरर्थक नहीं; शिशु के पालन द्वारा मानव-अस्तित्व की परम्परा को बनाये रखना ही उसका उद्देश्य है। किन्तु यह उद्देश्य हमारी जैवी प्रकृति से सम्बद्ध [Biological] है, राजनैतिक-आर्थिक व्यवस्था से नहीं। इसी प्रकार प्रेमास्पद के प्रति पूर्ण समर्पण की, उससे तादात्म्य स्थापित करने की, भावना का भी कोई, संकीर्ण अर्थ में, सामाजिक प्रयोजन नहीं दीखता। हमारी पूर्णत्व की अभिलाषा भी एक ऐसी ही भावना है। वास्तव में, मानव बुद्धि और ज्ञान के सीमित होने के कारण, हम अपनी प्रत्येक वासना और पक्षपात का बौद्धिक मंडन प्रस्तुत नहीं कर सकते। ऐसी दशा में काव्य-साहित्य को सामाजिक उपयोगिता की संकीर्ण परिधि में बाँधने की हठपूर्ण कोशिश करनेवाला उग्र बुद्धिवादी न सिर्फ मानव जाति की अव्यक्त अथच अज्ञात अथवा अर्धज्ञात अन्तःस्फूर्तियों को ही मिथ्या घोषित करता है, अपितु अपनी सर्वज्ञता का दावेदार भी होता है।

साथ ही हमें यह भी स्वीकार करना चाहिये कि कोई भी श्रेष्ठ साहित्य, जो जातीय होने का दावा करता है और समूची जाति या राष्ट्र के जीवन को प्रभावित करने की आकांक्षा रखता है, केवल वैयक्तिक चेतना का वाहक हो कर नहीं रह जा सकता। इस दृष्टि से केवल गीतात्मक काव्य, वह काव्य जो जाति या राष्ट्र के नैतिक-सामाजिक जीवन को अछूता छोड़ देता है, पूर्ण काव्य नहीं है। इसी भांति वह काव्य-साहित्य भी जो व्यक्ति की कोमल भावनाओं और वासनाओं की उपेक्षा करता है, पूर्ण नहीं हो सकता। इस दृष्टिकोण से हम कालिदास और तुलसी के काव्य को पूर्ण कह सकते हैं, तथा द्विवेदीयुगीन एवं छायावादी काव्य-प्रयत्नों को अपूर्ण। सम्पूर्ण जीवन को साथ लेकर चलनेवाला, उसके आन्तरिक और बाह्य

सब प्रकार के वैभव की निवृति करनेवाला, साहित्य ही पूर्ण साहित्य है।

प्रगतिवादियों ने छायावाद पर यह आक्षेप किया है कि वह पलायनवादी है; महादेवी जी ने उसका परिहार करने की कोशिश की है। वे कहती हैं—'छायावाद के जन्मकाल में मध्यमवर्ग की ऐसी क्रान्ति नहीं थी। आर्थिक प्रश्न इतना उग्र नहीं था, सामाजिक विषमताओं के प्रति हम सम्पूर्ण क्षोभ के साथ आज के समान जाग्रत भी नहीं हुए थे और हमारे सांस्कृतिक दृष्टिकोण पर असंतोष का इतना स्याह रंग भी नहीं चढ़ा था। तब हम कैसे कह सकते हैं कि केवल संघर्षमय यथार्थ जीवन से पलायन के लिये ही उस वर्ग के कवियों ने सूक्ष्म भाव-जगत को अपनाया।' [आधुनिक कवि, पृष्ठ २१] यहां भी हमें प्रगतिवादियों की अपेक्षा महादेवी जी के कथन में ज्यादा सत्य दिखाई पड़ता है। जिस अर्थ में 'पलायन' शब्द का प्रयोग किया गया है उस अर्थ में वह बच्चन के काव्य को जितना लागू होता है उतना पंत, प्रसाद आदि की कृतियों को नहीं। महादेवी जी ने पलायन के एक दूसरे और अधिक ग्राह्य अर्थ का भी संकेत किया है, अर्थात् अपूर्णता से मुक्त होकर पूर्णत्व की ओर बढ़ने की वासना। किन्तु हम यह स्वीकार नहीं करते कि छायावादी काव्य में इस प्रकार की कोई तीव्र प्रेरणा या वासना है। वस्तुतः छायावादी काव्य की प्रेरक शक्ति प्रकृति के कोमल-सूक्ष्म रूपों का आकर्षण है न कि सामाजिक वास्तविकता का विकर्षण; उसके मूल में प्रेम और सौन्दर्य की वासना है न कि आध्यात्मिक पूर्णता की भूख। छायावादी पलायनवृत्ति का उदाहरण देते हुए श्री शिवदान सिंह चौहान ने प्रसाद की निम्न पंक्तियां उद्धृत की हैं,

ले चल वहां भुलावा देकर

मेरे नाविक ! धीरे धीरे ।
जिस निर्जन मे सागर लहरी ।
अम्बर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे ।

किन्तु क्या ये पंक्तियाँ वस्तुतः पलायन-भावना से अनुप्राणित हैं ? हम ऐसा नहीं समझते । पंक्तियों में जो एक अन्तर्हित उल्लास का भाव है वह प्रगतिवादी व्याख्या का विरोधी है । 'ले चल मुझे भुलावा देकर' यह इस भावना को व्यक्त करने का ढंग मात्र है। कवि को क्षितिज की एक विशिष्ट छवि—वहां सागर-लहरी और अम्बर का समीपवर्ती होना, उनका सम्मिलन—नितान्त आकर्षक लगी है और वह वहां दर्शक होकर पहुँचना चाहता है । इन पंक्तियों में पलायन की भावना नहीं है इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि वे पाठक में किसी प्रकार की उदासीनता अथवा उदासी का भाव नहीं जगातीं । इसी प्रकार 'कोलाहल की अवनी' से दूरी या पृथक्ता का संकेत यह प्रकट करने का ढंग है कि वह हेय अथवा असुन्दर वस्तु है। अवश्यही कवि को यह अधिकार होना चाहिये कि वह कुछ वस्तुओं को सुन्दर एवं ग्राह्य और कुछ को असुन्दर तथा त्याज्य घोषित कर सके ।

किसी भी निष्पक्ष पाठक पर छायावादी काव्य पलायनशील होने का प्रभाव उत्पन्न नहीं करता। वास्तविकता यह नहीं कि छायावादी कवि सामाजिक यथार्थ से ऊब या घबराहट महसूस करते हैं, बल्कि यह कि वे वैयक्तिक चेतना से अधिक अनुराग रखते हैं, आत्म-केन्द्रित हैं । रीतिकाल के कवि भी समाज से तटस्थ रहे, पर इसका यह अर्थ नहीं कि वे वस्तु-जगत से घबड़ाकर पलायन करना चाहते

थे। अवश्यही छायावादियों में, गीतिकाव्य के क्षेत्र में भी, लोक-सामान्य भावभूमि से कतराने की प्रवृत्ति है, किन्तु वह उपर्युक्त पलायन से भिन्न है।

यहाँ छायावाद के पतन की प्रगतिवादी व्याख्या पर कुछ और शब्द जोड़ना जरूरी है। छायावादी काव्य से असंतोष केवल प्रगतिवादी आलोचकों को हुआ है या शिक्षित जनतामात्र को? पहली दशा में छायावाद का वस्तुतः पतन हुआ नहीं माना जायगा। यदि जनता छायावाद से संतुष्ट है तो उसके पतन पर टिप्पणी करना प्रलापमात्र है। किन्तु वस्तुस्थिति दूसरी है; (छायावाद से शिक्षित जनता को असंतोष है, अन्यथा वह उसके आलोचकों में इतनी अभिरुचि न लेती, और न छायावाद के आलोचक उसके निराकरण में सफलही हो पाते।) इस स्पष्टीकरण के बाद हम कह सकते हैं कि छायावाद का पतन एक तथ्य या वास्तविकता है और प्रगतिवादी आलोचना इस वास्तविकता की व्याख्या का एक प्रयत्न है। दूसरे ढंग की व्याख्याएँ या प्रयत्न भी सम्भव हैं। और क्योंकि आलोचनात्मक विवादों की कसौटी रसज्ञ पाठकों का अनुभव है, इसलिये छायावाद के पतन की वही व्याख्या अधिक मान्य होगी जो उस से असन्तुष्ट पाठकों के असन्तोष का अधिक ग्राह्य निरूपण प्रस्तुत कर सके। छायावादी काव्य ने रसज्ञ पाठकों में कुछ प्रतिकूल प्रतिक्रियायें जगाई हैं; और आलोचक का काम उन प्रतिक्रियाओं को बुद्धि की भाषा में प्रकट करदेनामात्र है। आलोचना का काम सर्वत्र रसानुभूति का स्पष्टीकरण होता है, रसानुभूति से असंबद्ध वादों या सिद्धान्तों का जमघट खड़ा करना नहीं।[1]

१—हमारा विचार है कि अपने 'काव्य में रहस्यवाद' ग्रन्थ में पं० रामचन्द्र शुक्ल ऐसी ही असंबद्ध सैद्धान्तिक चर्चा में पड़ गये। जहां तक रसानुभूति का प्रश्न है वहां तक वे ठीक थे—छायावादी रहस्यवाद हमें उचित सन्तुष्टि नहीं देता; किन्तु इस असंतोष का उन्होंने जो सैद्धिक निरूपण प्रस्तुत किया वह हमें काफी हदतक ग्राह्य नहीं है।

हमारा विचार है कि छायावाद की विषय-वस्तु में विराग उसके पतन का कारण नहीं हुआ। प्रथम तो हम मानते हैं कि छायावादी काव्य धार्मिक या आध्यात्मिक नहीं है, किन्तु यदि वह ऐसा होता तो भी इस धर्मप्राण देश में जनता उससे इतनी जल्दी न ऊबती। प्रकृति तथा प्रेम-सम्बन्धी काव्य से भी विरक्ति सम्भव नहीं है। क्योंकि यही छायावादी काव्य के मुख्य विषय थे इसलिये छायावाद के पतन का कारण उसका असामाजिक अथवा गलत विषयों से उलझना नहीं था।

पाठक नोट करें, हम यह नहीं कह रहे हैं कि जनता को इन विषयों में विरक्ति होनी अथवा नहीं होनी चाहिये—हमारे सामने यह प्रश्न ही नहीं है; प्रश्न यह है कि क्यों जनता ने छायावाद से असन्तोष अनुभव किया। वादों से अलग रहनेवाला रसज्ञ पाठक भी छायावाद से असन्तुष्ट अनुभव करता है, और वह इसलिये नहीं कि उसका विषय प्रकृति, नारी या परोक्ष प्रियतम है। पं० रामचन्द्र शुक्ल इसी कोटि के पाठक थे; प्रस्तुत लेखक भी अपने को ऐसे पाठकों में गिनता है। हमारा विश्वास है कि अधिकांश हिन्दी पाठक जो छायावाद से असन्तोष महसूस करते रहे हैं, मार्क्सवाद के अनुयायी नहीं है और न विश्व की आर्थिक-राजनैतिक व्यवस्था बदलने को ही विशेष उत्सुक रहे हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध में ऐसे ही पाठकों की अनुभूति को समझने का प्रयत्न किया जायगा।

हमारी मान्यता है कि प्रगतिवादी आलोचक ऐसे पाठकों की अनुभूति का सफल विश्लेषण नहीं कर पाये हैं। इसीलिये उनसे वे सब पाठक और आलोचक, जो वाद-ग्रस्त नहीं हैं, असन्तुष्ट हैं। इसीलिये हमारा विश्वास है कि प्रगतिवादी आलोचक आधुनिक हिन्दी कविता का उचित पथ-प्रदर्शन नहीं कर पाए हैं।[1]

हम जोशी जी के इस मन्तव्य से भी सहमत नहीं कि छायावाद

१—छायावाद के पतन के कल्पित या कम महत्वपूर्ण कारणों पर गौरव देकर, और इस प्रकार रसज्ञ पाठकों को अपने विरुद्ध खड़ा करके, प्रगतिवादियों ने उलटे छायावाद को पुष्ट किया है।

के पतन का कारण उसकी स्त्रैणता है। क्या निराला का काव्य स्त्रैण है? क्या "कामायनी" वैसी है? हम नहीं समझते कि महादेवी जी के विरह-काव्य पर यह लांछन लगाया जा सकता है, और पंत का सुन्दर-सुकुमार प्रकृति-प्रेम भी स्त्रैण नहीं कहा जा सकता।

हम मानते हैं कि, जैसा महादेवी जी ने भी संकेत किया है, काव्य-विशेष की परीक्षा उसकी सर्वमान्य अर्थात् सार्वकालिक कसौटी पर होनी चाहिये। यह सार्वकालिक कसौटी क्या है? इसका उत्तर देना सरल नहीं है, और हम उसका यत्न भी नहीं करेंगे। एक नितान्त अप्रगतिशील ढंग से कहें तो काव्य की सर्वमान्य कसौटी विश्व के महाकवियों का काव्य है। मैथ्यू आर्नल्ड ने भी कुछ-कुछ ऐसा ही कहा था; उनकी सम्मति है कि नये कवियों की परीक्षा करते समय हमें महाकवियों की कृतियों के कुछ महत्वपूर्ण अंश पढ़ लेने चाहिये—उनका स्मरण कर लेना चाहिये। उनकी तुलना में हम देख सकेंगे कि नवीन कृति उत्तम है या निकृष्ट।[1]

यह कसौटी विचित्र भले ही लगे पर अव्यवहार्य नहीं है। मतलब यह कि नये काव्य की समीक्षा करते समय हमें अपने को रसग्राहिता के उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित कर लेना चाहिये। और यह महाकवियों के अध्ययन से ही सम्भव है—उस वाणी का विषय कुछ भी हो। छायावाद के पतन के कारण खोजते हुए हम इस पद्धति का कुछ परिवर्तित रूप में प्रयोग करेंगे; हम यह देखने की चेष्टा करेंगे कि उसमें श्रेष्ठ काव्य के कौन से आवश्यक गुण नहीं पाये जाते।

३

छायावाद का स्वरूप

वस्तुस्थिति यह है कि छायावादी काव्य की कुछ अपनी निराली विशेषताएं हैं जिनके सन्दर्भ में उसके गुण-दोषों की परीक्षा की जा

१—दे० उनका निबन्ध, The study of Poetry. टी० एस० इलियट ने शास्त्रिकार के सम्बन्ध में लिखा है कि he must inevitably be judged by standards of the past.

सकती है। ये विशेषताएं क्या हैं? छायावादी काव्य को किस प्रकार लक्षित या भिन्न किया जा सकता है? यहाँ भी हमारा कतिपय न्यूनाधिक स्वीकृत मान्यताओं से भेद है। छायावाद क्या है, इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि वह (१) गीतिकाव्य है, (२) प्रकृति काव्य है, और (३) प्रेम-काव्य अथवा रहस्यवादी काव्य है।

छायावाद के ये वर्णन मिथ्या न होंगे, पर वे एकान्त सत्य भी नहीं। शेली, कीट्स और टेनीसन का काव्य गीति काव्य है, पर उसे छायावाद नहीं कहा जा सकता; वर्डस्वर्थ का काव्य प्रकृति-काव्य है, पर वह भी छायावाद नहीं; और कबीर, जायसी तथा रवीन्द्र रहस्य-वादी हो सकते हैं, पर वे छायावादी नहीं हैं। वस्तुतः छायावाद साधारण गीति काव्य, प्रेमकाव्य या रहस्यवादी काव्य नहीं है; न्यूना-धिक यह सब होते हुए भी उसकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जो उसे एक निराली स्थिति दे देती हैं।

ये विशेषताएँ हमारी समझ में तीन हैं, अर्थात्—

(१) धूमिलता या अस्पष्टता

(२) बारीकी या गुम्फन की सूक्ष्मता

(३) काल्पनिकता और कल्पना-वैभव

इन विशेषताओं को संक्षिप्त वैज्ञानिक परिभाषाओं में बाँधना सरल नहीं हैं; यह कहना भी दुष्कर है कि कहां तक वे शैली से और कहाँ तक अनुभूति से सम्बन्ध रखती हैं। उदाहरण के लिए दूसरी विशेषता को शैली का गुण कहा जा सकता है, पर स्पष्ट ही गुम्फित होनेवाले तत्त्व अनुभूति का अंग हैं। इसी प्रकार जहाँ भावनाएँ धूमिल हो सकती हैं वहां अस्पष्टता का कारण व्यञ्जनागत अशक्ति भी मानी जा सकती है। ऐसे ही कल्पना को भी अनुभूति से जुदा नहीं किया जा सकता।

हमारा विचार है कि छायावाद के निराले गुण-दोषों का रहस्य उसकी उक्त विशेषताओं में निहित है। 'छायावाद' कहने से अधीत

सर्वत्र ही जय जानकी जीवन कहो' जैसी पंक्तियों को स्वीकार करके चल सकते हैं।

आधुनिक मनोवृत्ति को लक्षित करना सहल नहीं है, पर उसके बारे में एक बात निश्चय-पूर्वक कही जा सकती है—उसकी अभिरुचि का केन्द्र मनुष्य है, ईश्वर नहीं, यह लोक है, परलोक नहीं। द्विवेदी युगीन सांस्कृतिक चेतना धार्मिक और परलोक तथा ईश्वर-केन्द्रित है इसलिये वह नई पीढ़ी के लोगों को, जो अँगरेजी साहित्य के वातावरण में पले थे, संतोष न दे सकी। यदि हम द्विवेदी-युगीन काव्यों की माइकेल मधुसूदन दत्त के 'मेघनाद-वध' से तुलना करें तो इस अन्तर को स्पष्ट देख सकेंगे; तब यह भी स्पष्ट हो जायगा कि प्रथम की अग्राह्यता का हेतु कथात्मकता नहीं है।

अतः हम यह भी कह सकते हैं कि छायावाद अनाधुनिक पौराणिक धार्मिक चेतना के विरुद्ध आधुनिक लौकिक चेतना का विद्रोह था।

यह स्थापना कुछ लोगों को चकित कर सकती है। वे कहेंगे कि छायावादी काव्य लौकिक नहीं है, क्योंकि उसका केन्द्र अपरोक्ष चेतन तत्त्व है, और वह धर्म-विरोधी भी नहीं है। पहले हम इस आपत्ति के दूसरे अंश पर विचार करें। अधुनिकता का अर्थ अनैतिकता या धर्म-विरोधिता नहीं है,

और अर्जुन के बदले लौकिक वीरों का विरुद गाया जा रहा था। सामान्यतः भारतवासी पौराणिक अतीत के बदले ऐतिहासिक अतीत की ओर, धार्मिक जातीयता से राजनैतिक राष्ट्रीयता के प्रति, भागवत आदि के बदले उपनिषदों और गीता की ओर उन्मुख हो रहे थे। विवेकानन्द ने वेदान्त का जयघोष किया, भागवत भक्तिवाद का नहीं; रवीन्द्र ने राम-कृष्ण सम्बन्धी गीतों का रूपान्तर न करके कबीर के पदों का अनुवाद किया। कारण यह था कि अब धार्मिकता का स्थूल रूप अग्राह्य हो चला था।

तो क्या छायावाद का रहस्यवादी अंश धार्मिक या पारलौकिक है? क्या रवीन्द्र का काव्य वैसा है? हमारी भावना है कि छायावाद की तुलना में रवीन्द्र का काव्य अधिक आध्यात्मिक हो सका है। किन्तु सर्वत्र ही इस युग के काव्य में विश्व के व्यक्त सौन्दर्य के प्रति अनुराग का भाव दिखाई देता है। रावीन्द्रिक काव्य योरुप के उस विकासानुप्राणित अध्यात्मवाद से प्रभावित हुआ जिसकी पूर्ण अभिव्यक्ति हीगल के दर्शन में हुई थी। यह अध्यात्मवाद (Idealism) वेदान्त की भाँति विश्व को मायिक घोषित न करके ब्रह्म की अभिव्यक्ति कथित करता है। हीगल के अनुसार 'राज्य' और 'दर्शन' क्रमशः चित् (Idea) के विषयगत (Objective) और निरपेक्ष (Absolute) रूप की उच्चतम अभिव्यक्तियाँ हैं। अवश्यही उपनिषदों में भी इस प्रकार के अध्यात्मवाद के बीज हैं, पर उसका विकास भारतवर्ष में नहीं हुआ। यह देखने की बात है कि रवीन्द्र के विश्वासों और "गीताञ्जलि" का निर्माण प्रायः प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व हुआ था जब संसार में हैगलिक अध्यात्मवाद का बोलबाला था। युद्ध के आस-पास ही वस्तुवाद (Realism) और जड़वाद (Materialism) की शक्तियाँ बढ़ने लगी थीं।

ऐतिहासिक दृष्टि से छायावाद-युग का वातावरण आध्यात्मिकता के उपयुक्त न था। वस्तुतः ये कवि रवीन्द्र के व्यक्तित्व से अधिक प्रभावित थे, विश्व की समसामयिक विचारधाराओं से कम। यों तो भारतीय विश्वविद्यालयों में कुछ दिन पहले तक हीगल, ब्रैडले

आदि से प्रभावित अध्यापकों द्वारा शिक्षा दी जाती थी जिसके फल-स्वरूप अध्यात्मवाद "फैशनेबिल" सिद्धान्त माना जाता था। किन्तु यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि यह अध्यात्मवाद लौकिकता का विरोधी न होकर उसका उत्तेजक था; व्यक्त प्राकृतिक-सामाजिक जगत के प्रति अनुराग उसका मेरुदण्ड था।

छायावाद और अध्यात्म के सम्बन्ध पर काफ़ी पहले श्रीनन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा था—'मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार में छायावाद की सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है।' (हि० सा० बीसवीं शताब्दी, पृ० १६३) महादेवी जी ने छायावाद और छायावादी रहस्यवाद में भेद करते हुए यह दावा अपने काव्य के लिये किया है। "सान्ध्यगीत" की भूमिका में वे कहती हैं—'परन्तु इस सम्बन्ध से मानव हृदय की सारी प्यास न बुझी ····· इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्म-निवेदन कर देना इस (प्रकृति-काव्य) का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय

हमारा वोट श्रीनगेन्द्र और दिनकर के पक्ष में है। श्री दिनकर ने जिस जनता का उल्लेख किया है वह पौराणिक धर्म की छाया में पली थी और धार्मिकता का अर्थ भक्ति तथा वैराग्य समझती थी। वेदान्त के अनुसार भी 'इहामुत्रभोगविराग' आध्यात्मिक साधना का पहला कदम है। अस्तु, हमारी मान्यता है कि छायावाद मुख्यतः प्रकृति-काव्य और (लौकिक—) प्रेम-काव्य है, और उसका मूल्यांकन उसी दृष्टि से होना चाहिये। उसकी प्रशंसा और पराशंसा दोनों के लिये भारतीय आध्यात्मिकता का आरोप करना उचित नहीं है।[1]

छायावाद-युग के कवि एक ओर रवीन्द्र तथा अंग्रेजी कवियों की काव्य-चेतना से प्रभावित थे तो दूसरी ओर जनतंत्रामोदित व्यक्तिवाद से; यही कारण है कि वे इतनी शीघ्रता और सफलता से द्विवेदी युग की चेतना से विच्छिन्न होकर हिन्दी-काव्य-धारा को सर्वथा भिन्न दिशा में मोड़ सके। उस युग के काव्य में नई सौंदर्य-चेतना, नई प्रेम-चेतना और नई नैतिक चेतना है। इस नवीनता को हम आधुनिकता के नाम से भी अभिहित कर सकते हैं, वह आधुनिकता जो यौरुप में पुनर्जागृति (Renaissance) के समय से क्रमशः प्रतिष्ठित हो रही

१—पन्त के काव्य में आध्यात्मिकता का आरोप बहुत कम है; उनका अकस्मात् अपने को प्रगति-वादी (जड़वादी) घोषित कर देना इसका प्रमाण है कि वे कभी आध्यात्मिकता में गहरे डूबे हुए न थे। 'प्रसाद' में रूप-यौवन का काफी मोह है और उनकी—

बाँधा था विधु को किसने उन काली जंजीरों से
मणिवाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से

जैसी पंक्तियों की (जो प्रियतम की काली लटों, केशपाश आदि का वासना-मूलक वर्णन प्रस्तुत करती हैं) आध्यात्मिक व्याख्या करना कवि की "स्पिरिट" के प्रति अन्याय होगा। महादेवी जी के काव्य का विषय वियोगानुभूति है न कि व्यक्त में अव्यक्त की छाया का भान; अन्यथा उनका काव्य वेदना-प्रधान न होकर उल्लास-प्रधान होता, जैसा कि रवि बाबू का काव्य है।

थी और जो मध्यकालीन पौराणिक धर्मभावना की विरोधिनी थी।

नवीन नैतिक चेतना छायावाद में स्पष्ट न होते हुए भी सर्वत्र ओत-प्रोत है। जब बच्चन कहते हैं कि 'वृद्ध जग को मेरी जवानी क्यों अखरती है' तब वे प्राचीन नैतिक चेतना के प्रति विद्रोह प्रकट करते हैं। उनका हालावाद भी इसी विद्रोह का प्रतीक है। पन्त की,

> कभी तो अबतक पावन प्रेम
> नहीं कहलाया पापाचार,
> हुई मुझ को ही मदिरा आज
> हाय, क्या गंगाजल की धार !!

इन पंक्तियों में भी उस अभिनव नैतिक चेतना की गूँज है जो शास्त्र के आदेशों के बदले व्यक्ति के हृदय (और बुद्धि) को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का प्रतिमान बनाना चाहती है।

साहित्यिक दृष्टि से छायावादी काव्य की मुख्य लब्धि हिन्दी पाठकों में सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष और प्रसार है। शेली, कीट्स वर्ड्सवर्थ और रवीन्द्र से प्रभावित छायावादी कवियों की वृत्ति यकायक सौन्दर्योन्मुखी हो उठी; वे विश्व की अशेष वास्तविकताओं को सौन्दर्य की भाषा में अनूदित करने लगे। और क्योंकि काव्य-सृष्टि की प्रेरक शक्तियों में सौन्दर्य मुख्य है, इसलिए कहना चाहिए कि छायावाद ने पहली बार आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रकृत काव्य-दृष्टि की प्रतिष्ठा की।

और यह उस काल की सभी कविताओं के विषय में कहा जा सकता है, केवल प्रकृति-सम्बन्धिनी ही नहीं। वह प्रायः पक्षियों के कलरव, अलियों के गुञ्जन, हिम-शिशुओं के हास, पिक की तान, बादल के गर्जन, तिमिर, दीपक आदि की भाषा बोलती है, मानव सुख-दुख, मानापमान, आशा-कांक्षा आदि की नहीं। इसलिए भी वह जीवन से विच्छिन्न प्रतीत होती है। इसीलिए इस काल की कवितामें महान् कलाकारों के परिपक्व विवेक (Mature wisdom) का अभाव है, और वह वयःसंधि-काल का भाव-विलास-सा प्रतीत होती है। यदि कोई केवल छायावादी काव्य को देखकर काव्य की परिभाषा बनाए तो वह कहेगा कि काव्य का विषय प्रकृति-जगत है, मानव-जीवन नहीं, भले ही उस प्रकृति के आभ्यन्तर या बाह्य में चैतन्य का आरोप कर लिया गया हो।

प्रकृति का पर्यवेक्षण छायावादी कवियों ने बड़ी सूक्ष्मता और कहीं-कहीं मार्मिकता से किया है। प्रकृति अपने में स्थूल है, सूक्ष्म नहीं; पर छायावादी काव्य में वह भावनाओं की भांति सूक्ष्म बन गई है। पन्त का प्रकृति-दर्शन सब से अधिक मांसल है, और महादेवी का सबसे अधिक नीरूप, या सूक्ष्म; सर्वत्र छायावादी कवियों का प्रकृति-पर्यवेक्षण अतिशय जागरूकता और प्रयास-लब्ध सूक्ष्म-दृष्टिता का परिचय देता है।

छायावादी कवियों की दूसरी लब्धि विषय के अनुरूप पदावली का संचय और प्रयोग है। उनकी कोमल सौन्दर्य-वृत्ति ने आधुनिक हिन्दी के कलेवर को बरबस कोमलता के साँचे में ढाल दिया। काव्य-कला की दृष्टि से छायावाद की यह बहुत बड़ी विजय थी। पता नहीं छायावादियों द्वारा प्रयुक्त छन्द हिन्दी में पहले थे या नहीं, पर इसमें सन्देह नहीं कि इन कवियों ने उनका बड़े मौलिक अधिकार से प्रयोग किया। छायावादी काव्य की प्रेरक भावराशि ही नहीं, उसकी पदा-वली ही नहीं, उसके छन्द भी आधुनिक हिन्दी के लिए एक नई चीज हैं। और जहां उसकी भाव-राशि पर विदेशी कवियों का और उसकी पदावली पर बंगला काव्य का प्रभाव माने जाने की सम्भावना है, वह

हुआ। इसका यह अर्थ नहीं कि छायावादी कवियों में प्रतिभा नहीं थी; उनमें प्रतिभा थी, पर साधना का अभाव-सा रहा। बाह्य प्रेरणा भी आन्तरिक प्रेरणा अथवा साधना बन सकती है, पर तब जब वह चिन्तन और अनुभूति द्वारा आत्मसात् कर ली जाय। छायावाद के प्रवर्त्तक कवियों में हम सुचिन्तित साधना का अभाव पाते हैं।

इस वक्तव्य को कुछ पल्लवित करने की ज़रूरत है। छायावादी काव्य 'रोमाण्टिक' काव्य से प्रभावित हुआ था, और उससे समानता भी रखता हैं। 'रोमाण्टिक' काव्य की भाँति ही वह कला-क्षेत्र में क्रान्ति का सन्देश लाया था। किन्तु क्रान्ति के पीछे चिन्तन का जितना बल चाहिये वह उस में नहीं था। अंग्रेजी रोमाण्टिक कवियों पर दृष्टिपात करते हुए हम पाते हैं कि वे प्रायः सभी काफी चिन्ताशील, काफी उच्चकोटि के विचारक थे। सब में उच्च आलोचना-शक्ति थी।[1] वर्ड्सवर्थ, शेली, कालिरिज आदि के साहित्य-सम्बन्धी निबन्ध आज भी सम्मान-पूर्वक पढे जाते हैं। किन्तु छायावादी कवियों में हम कोई उच्च कोटि का साहित्यिक विचारक नहीं पाते। इस दृष्टि से 'पल्लव' का 'प्रवेश' नितान्त स्थूल और नीचे धरातल पर चलता हुआ दिखाई देता है। पन्त ने वहाँ 'कविता के अंतरंग पर' दृष्टि नहीं डाली, शायद उनकी दृष्टि में बहिरंग का विचार ही अधिक महत्वपूर्ण था। आश्चर्य यह है कि किसी अन्य छायावादी कवि ने भी यह काम नहीं किया। छायावाद के समर्थक आलोचकों के बारे में भी यही सत्य है। इसके विपरीत हम रवीन्द्रनाथ को 'साहित्य' पर एक महत्वपूर्ण निबन्ध प्रस्तुत करते पाते हैं। यह भेद

---

[1] तु० की० G. H. Mair, The romantic revival is the Golden Age of English criticism; all the poets were critics. [English Literature Modern]

छायावादी काव्य और रावीन्द्रिक काव्य के साधनात्मक धरातलों का भेद है।[१]

चिन्तनात्मक साधना के अभाव में छायावादी कवि शीघ्र ही आत्म-विश्वास खोने लगे। पन्त का नाटकीय परिवर्तन इसा प्रमाण है। अन्य कवियों निराला, रामकुमार वर्मा आदि-का आत्मविश्वास भी अडिग नहीं रहा है। इस आत्म-विश्वास की कमी का एक और कारण भी हुआ हैं। छायावादी काव्य का मेरुदण्ड कल्पना है, उस में अनुभूति गौरण है। अनुभूति को अपनी सत्यता में जितना विश्वास होता है उतना कल्पना को नहीं; अतः छायावादी कवि आज पुराने पथों से कतराते हुए दिखाई देते हैं।

हिन्दी के साहित्यिक इतिहास में छायावाद का जीवन-काल आश्चर्यजनक-रूप में अल्प रहा, मुश्किल से बीस वर्ष। इतने थोड़े काल में उससे और अधिक सफलता की आशा भी नहीं की जा सकती थी। उसका प्रारम्भ परम्परावादियों के विरोध से हुआ, और उसका अन्त प्रगतिवादियों के प्रहारों से हो रहा है। टी० एस्० इलियट ने लिखा है:—

No man can invent a form, create a taste for it, and perfect it too. [The sacred wood, पृ० ६२] अर्थात्-कोई व्यक्ति तीनों काम एक साथ नहीं कर सकता, किसी नए कलात्मक रूप की सृष्टि, उसमें अभिरुचि जगाना, और उसे पूर्ण रूप देना। छायावादी कवियो ने प्रथम दो कार्य किए, और यदि वे तीसरा नहीं कर सके तो उसके लिये उन्हें दोषी नहीं ठहराया जा सकता। वस्तुत: किसी व्यक्ति या युग की अपूर्णताओं का

१ स्वयं छायावादी कवियों ने, रवीन्द्र, डी० एल० राय आदि की भाँति, अतीत महाकवियो पर दृष्टि डालने का प्रयत्न भी नहीं किया। विद्रोह की उत्तेजना में छायावाद के नेता अपने को भारतीय साहित्यिक परम्परा से विच्छिन्न-सा समझते तथा घोषित करते रहे। उन्हों ने प्रेरणा के लिये प्रायः रवीन्द्र और पश्चिमी कवियों की ओर ही देखा।

उल्लेख उसकी निन्दा का पर्याय नहीं है। अपूर्णताओं को प्रकाश में इसलिये लाया जाता है कि हम यथाशक्ति उनसे बचकर उच्चतर पूर्णता की ओर बढ़ सकें।

छायावाद की दुर्बलताओं को हम यथाशक्ति कम-से-कम शीर्षकों में बाँट कर वर्णित करेंगे। किन्तु क्योंकि ये दुर्बलताएँ एक-दूसरे में ग्रथित हैं, अतः उन्हें विविक्त ही किया जा सकता है, अलग नहीं। इसलिये सम्भव है कहीं-कहीं पाठकों को पुनरुक्ति की शिकायत हो।

शब्द-मोह, चित्र-मोह, कल्पना-मोह

छायावादी काव्य अथवा शैली की एक विशेषता शब्दों, चित्रों और अलङ्कारों का मोह है। वस्तुतः ये तीन कमज़ोरियाँ हैं, जिन्हें किंचित् बाहरी समानता तथा प्रतिपादन की सुगमता के लिये हम एकत्र वर्णित कर रहे हैं। श्रेष्ठ लेखक अथवा श्रेष्ठ साहित्य इन तीनों मोहों से मुक्त होता है। उसमें केवल एक ही मोह या आग्रह पाया जाता है, अर्थात् अनुभूति को यथाशक्ति समग्रता में व्यक्त करने का आग्रह।

भाषा अनुभूति को व्यक्त करने का माध्यम है। शब्द अभिव्यक्ति का अस्त्र या उपकरण हैं, वे स्वतः कोई श्लाघ्य या संग्राह्य वस्तु नहीं हैं। ठीक स्थान पर उचित ढंग से प्रयुक्त शब्द ही, जो अनुभूति की व्यञ्जना को आगे बढ़ाते हैं, रचनागत सौन्दर्य के हेतु होते हैं। श्रेष्ठ लेखक शब्दों के सम्बन्ध में मितव्ययी होता है, वह अपने अस्त्रों का व्यर्थ प्रयोग नहीं करता। इसके विपरीत साधारण लेखक, और अपने प्रारम्भिक वर्षों में प्रायः प्रत्येक लेखक, शब्दों के मोह का शिकार होता है। वह आवश्यकता से अधिक शब्दों का प्रयोग करता है और प्रायः शब्दों को अनुभूति का स्थानापन्न समझता है। पर्याप्त अथवा निविड़ अनुभूति का अभाव भी लेखकों के शब्दाडम्बर में फँसने का हेतु होता है।[१]

१—बाणभट्ट जैसे शब्द-शिल्पी लेखक प्रायः वस्तु-जगत के सम्बन्ध में ही राग-विराग महसूस न करके शब्दों और उनके अनुषंगों (Associations) से इतने अधिक प्रभावित होते हैं कि तत्सम्बन्धी अनुभूति को ही प्रकट करने बैठ जाते हैं। "कादम्बरी" में सुन्दर शब्दों का जितना संचय है उसका दसवाँ अंश भी "मेघदूत" आदि में नहीं है, किन्तु यह सम्मति कोई अरसज्ञ ही देगा कि कालिदास की अपेक्षा बाणभट्ट का सौन्दर्य-प्रेम अधिक उत्कट है। वस्तुतः शब्दों और शब्दालंकारों का मोह जीवनानुभूति की क्षीणता का द्योतक है।

जिस लेख या रचना में शब्दों का मितव्यय होता है उसमें एक बात और देखी जा सकती है,—वहाँ प्रत्येक वाक्य में कतिपय अधिक व्यञ्जक शब्दों पर गौरव रहता है। इस गौरव द्वारा लेखक वाक्यार्थ की दिशा को स्पष्ट करता है और उसे पाठक के हृदय पर अंकित कर देता है।

छायावादी काव्य में हम अकसर उपर्युक्त नियमों का विपर्यय पाते हैं। उसमें प्रायः आवश्यकता से अधिक शब्दों का प्रयोग होता है और व्यर्थ पदों को बचाने का विशेष प्रयत्न नहीं किया जाता। शब्दों के चयन में छायावादी प्रायः दो बातों का ध्यान रखता है, प्रथम यह कि वे श्रुति-मधुर हों और दूसरे, सुन्दर अनुषंग (Associations) जगानेवाले हों। छायावादी कवि सुन्दर शब्द-संचय द्वारा अपनी रचना में आकर्षण, सजावट एवं संगीत उत्पन्न करना चाहता है; अनुभूति को व्यक्त करना उसका मुख्य ध्येय नहीं है।

ऊपर की विशेषता को हमने शब्द-मोह कहा है और उसे एक दुर्बलता माना है। बात यह है कि काव्य-साहित्य में प्रधान स्थान अनुभूति का है; संगीत गौण है—उसकी साधना के लिए दूसरा क्षेत्र भी है; और वहाँ रोचकता का प्रधान हेतु अनुभूति ही होती है, शब्द-रचना नहीं। अन्ततः जीवन अथवा उसकी मार्मिक अनुभूति से अधिक रोचक कुछ भी नहीं है, और जो लेखक उसके बदले शब्दों का जाल बिछाने की चेष्टा करता है वह छोटा कलाकार है। इसीलिए बाणभट्ट और स्विनबर्न, जो अर्थ-भंगी तथा संगीत के पीछे पड़े रहते हैं, कभी कालिदास और वर्ड्सवर्थ के समकक्ष नहीं हो सकते।

छायावादियों का शब्द-मोह उनके गद्य और पद्य दोनों की रचनाओं से प्रकट होता है। पहले गद्य के कुछ उदाहरण लीजिए। 'ज्योत्स्ना' की 'विज्ञापिका' में निराला जी लिखते हैं—

काव्य के चारु चरणों से हिन्दी के दारु-पथ को पार कर प्रांजल-श्री श्री सुमित्रानन्दन काव्योपवन के सांजलि लिखे हुए प्रकाश-दृष्टि सुन्दर गुलाब हैं। आज उन्हीं की प्रतिभा के रूप-रंग, मधु-गंध और

भावोच्छ्वास की प्रशंसा से प्रति मुख मुखर है।

पन्त जी के कुछ वाक्य देखिये :—

संस्कृत का संगीत जिस तरह हिल्लोलाकार मालोपमा में प्रवाहित होता है, उस तरह हिन्दी का नहीं। वह लोल-लहरों का चञ्चल कलरव, बाल-झंकारों का छेकानुप्रास है। ......हिन्दी का संगीत स्वरों की रिमझिम में बरसता, छनता छनकता, बुदबुदों में उबलता, छोटे छोटे उत्सों के कलरव में उछलता-किलकता हुआ बहता है।

['पल्लव' का 'प्रवेश']

ऊपर के अवतरणों में कोई ठोस बात कहने की चेष्टा की गई हो या नहीं, पर शब्द-संगीत अवश्य है। 'चारु-चरणों', 'दारु पथ-पार' 'प्रांजल-सांजलि' 'हिल्लोलाकार मालोपमा' आदि के अनुप्रास स्पष्ट ही कानों को सुन्दर लगते है। पल्लव के 'प्रवेश' की विवेचना का मुख्य विषय शब्द और संगीत हैं तथा 'गुञ्जन' के सक्षिप्त 'विज्ञापन' में पन्त जी को निम्न बातों का उल्लेख करना अत्यावश्यक लगा :—

'मेंहदी' में दूसरे वर्ण पर स्वर पात मधुर लगता है... 'प्रिय प्रिया ह्लाद' से 'प्रियप्रिआहलाद' अच्छा लगता है। .... 'पल्लव' की कविताओं में मुझे 'सा' के बाहुल्य ने लुभाया था, यथा—अर्द्ध-निद्रित-सा, विस्मृत-सा, न जाग्रत-सा, न विमूर्च्छित-सा—इत्यादि। 'गुञ्जन' में 'रे' की पुनरुक्ति का मोह नहीं छोड सका। यथा—'तप रे मधुर-मधुर मन'—इत्यादि। 'सा' से, जो मेरी वाणी का सम्वादी-स्वर एकदम 'रे' हो गया, यह उन्नति का क्रम संगीत-प्रेमी पाठकों को खटकेगा नहीं, ऐसा मुझे विश्वास है।

संगीत-प्रेमी पाठकों को भले ही यह उन्नति-क्रम लगा हो और न खटका हो, पर उच्चकोटि के साहित्य-रसिकों के समक्ष अवश्य ही यह न खटकनेवाली बात न थी। क्या अपने साहित्यिक नेताओं से जनता इसी प्रकार के छिछले विश्लेषणों और व्याख्याओं की आशा कर सकती थी? वस्तुतः उस समय छायावाद के न गम्भीर समर्थक ही मौजूद थे और न गम्भीर आलोचक जो इन बाल-प्रवृत्तियों का सतर्क नियन्त्रण करते।

शब्दों के सम्बन्ध में पन्त ने लिखा है :—

'शब्द भी ये सब एक ही विराट् परिवार के प्राणी हैं। इनका आपस का सम्बन्ध, सहानुभूति, अनुराग-विराग जान लेना; कहां कब एक की साड़ी का छोर उड़कर दूसरे का हृदय रोमाञ्चित कर देता; कैसे एक की ईर्षा अथवा क्रोध दूसरे का विनाश करता, कैसे फिर दूसरा बदला, लेता; कैसे ये गले लगते, बिछुड़ते; कैसे जन्मोत्सव मनाते तथा एक-दूसरे की मृत्यु से शोकाकुल होते,—इनकी पारस्परिक प्रीति-मैत्री, शत्रुता तथा वैमनस्य का पता लगा लेना क्या आसान है।

शब्दों के सम्बन्ध में जिसके ऐसे उच्च भाव हों वह यदि नीचे की पंक्तियाँ लिखे तो आश्चर्य ही क्या है—

वितरती गृह-वन मलय-समीर
साँस, सुधि, स्वप्न, सुरभि, सुख, गान
मार केशर-शर मलय-समीर
हृदय हुलसित कर, पुलकित प्रान।
आज तृण छद, खग, मृग, पिक, कीर
कुसुम, कलि, व्रतति, विटप सोच्छ्वास,
अखिल, आकुल, उत्कलित, अधीर,
अवनि, जल, अनिल, अनल आकाश।

[गुञ्जन—३]

तथा

धन्य मातृ, धन्य धातृ
धन्य पुत्र सचराचर।
निखिल शस्य, पुष्प-निकर
कोटि कीट, खग, पशु, नर

+ + +

रवि-शशि- स्मिति दिशि मंडल
नील-सिन्धु चल-मेखल
हिमगिरि,शत सरित चपल

तड़ित-चकित नभ सुन्दर

\+ × +

पत्नी-पति, भगिनि-भ्रात
दुहिता-सुत, पिता-मात
स्नेह बद्ध सकल तात
पुरजन, परिजन, सहचर ?

[ज्योत्स्ना]

सुन्दर शब्द कभी-कभी काव्यगत सौन्दर्य एवं संगीत को नष्ट भी कर देते हैं यह शब्द-पारखी पन्त नहीं जान सके। 'पल्लव' की 'वसन्त-श्री' में तभी तो

उस फैली हरियाली में
कौन अकेली खेल रही माँ !
वह अपनी वय बाली मे
सजा हृदय की थाली में—

इस सुन्दर पद्य के बाद [जिसकी अन्तिम, पंक्ति अनावश्यक है] हम पढ़ते हैं,

क्रीड़ा, कौतूहल, कोमलता
मोद, मधुरिमा, हास, विलास,
लीला, विस्मय, अस्फुटता, भय
स्नेह, पुलक, सुख, सरल-हुलास
ऊषा की मृदु लाली में—

पन्त की कविता में कुछ पदों का अधिक प्रयोग होता है जैसे चिर, नव, आदि। कभी-कभी कुछ श्रुति-मधुर शब्दों की निरर्थकता बहुत खलने लगती है,

रुपहले, सुनहले, आम्र-बौर
नीले, पीले औ ताम्र भौंर

\+ + +

उड़ पाँति पाँति में चिर-उन्मन
करते मधु के वन में गुञ्जन

यहाँ चिर-उन्मन विशेषण कोई अर्थ नहीं रखता; आगे के पदों में भी यही बात है। इसी प्रकार,

तप रे मधुर मधुर मन
अपने सजल-स्वर्ण से पावन
रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम
स्थापित कर जग में अपनापन
ढल रे ढल आतुर-मन

तेरी मधुर-मुक्ति ही बन्धन
गन्ध-हीन तू गन्धयुक्त बन
निज अरूप में भर स्वरूप, मन !
मूर्त्तिमान बन, निर्धन !
गल रे गल निष्ठुर-मन !

[गुञ्जन]

तथा

तुम आओगी आशा में
अपलक हैं निशि के उडुगण
आओगी, अभिलाषा से
चंचल, चिर-नव, जीवन-क्षण

[गुञ्जन – २०]

इन पद्यों में रेखांकित पद सार्थक प्रतीत नहीं होते।

पन्त में शब्दों का जमघट बहुत है, निराला में ऐसा कम है; पर शब्द-मोह की, दूसरे रूप में, कमी नहीं है,

पहनाये ज्योतिर्मय, जलधि-जलद-भास
अथवा हिल्लोल-हरित-प्रकृति-परित वास

मुक्ता के हार हृदय,
कर्ण कीर्ण हीरक-द्वय,
हाथ हस्ति-दन्त-वलय मणिमय,

चरण स्वर्ण-नूपुर कल
जपालक्त श्रीपद तल

आसन शत-श्वेतोत्पल-संचय

[अनामिका—कविता के प्रति]

यहाँ शब्द योजना ओजयुक्त तथा मधुर है, पर कतिपय पदों की सार्थकता तथा पूरे पद्य का अर्थ कम स्पष्ट नहीं है। और देखिये,

हारीं नहीं, देख, आँखें—

परी नागरी को :

तिल नीलिमा को हरे स्नेह से भर

जग कर नई ज्योति उतरी धरा पर

रंग से भरी हैं, हरी हो उठीं हर

तरु की तरुण-तान शाखें

परी-नागरी की—

[अनामिका—अपराजिता]

तथा,

आओ, आओ फिर, मेरे वसन्त की परी

छवि–विभावरी

इन पद्यों में रेखांकित पद स्पष्ट ही अपने अर्थ के लिए नहीं, सौन्दर्य के लिये लाए गए हैं। 'सम्राट् एडवर्ड अष्टम के प्रति' कविता का आरम्भ अत्यन्त मोहक शब्दों से होता है,

वीक्षण अराल

बज रहे जहाँ

जीवन का स्वर भर छन्द ताल

मौन में मन्द्र

ये दीपक जिसके सूर्य–चन्द्र

बँध रहा जहाँ दिग्देश काल, इत्यादि

यहाँ यह पता नहीं चलता कि 'वीक्षण अराल' (कुटिल नेत्र) का पूरे वाक्य में क्या स्थान है। मालूम होता है कवि नेउक्त दो

शब्दों के सौन्दर्य से लुभाकर, सुन्दर आरंभ के लोभ से, उन्हें वहाँ रख दिया है।'

शब्द-मोह महादेवी और प्रसाद में कम है; वह पन्त और निराला के काव्य में ही विशेष रूप में पाया जाता है। हिन्दी-कविता की शब्द-शक्ति बढ़ाने का श्रेय भी मुख्यतः इन्हीं दो कवियों को है। भलाई और बुराई का कैसा विचित्र संयोग है!

शब्दों का संगीत से क्या सम्बन्ध है? छायावादी कवियों का यह विचार प्रतीत होता है कि विशेष प्रकार की शब्द-योजना संगीत-सृष्टि में सहायक होती है। सम्भवतः इसीलिए वे यत्नपूर्वक तथा-कथित सुन्दर शब्दों का चयन करते रहे। किन्तु यह मान्यता भ्रामक है। कालिदास के 'मेघदूत' के संगीत का कारण कोमल शब्द-योजना नहीं है, उक्त कवि ने कहीं भी अकोमल शब्दों का सप्रयास बहिष्कार नहीं किया है—वस्तुतः संस्कृत की समासयुक्त वाक्य-रचना में यह सम्भव ही नहीं है। उदाहरण के लिए,

तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नी
मव्यापन्नामविहतगति द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्
आशाबन्धः कुसुमसदृशः प्रायशो ह्यंगनानां
सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि
त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धै र्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः
सद्यः सीरोत्कषण सुरभि क्षेत्र मारुह्य मालम्
किंचित्पश्चाद्व्रज लघुगति भूय एवोत्तरेण।

इन पद्यों को संगीत-शून्य नहीं कहा जा सकता—वस्तुतः उनमें उच्च कोटि का संगीत है, यद्यपि उनमें अनेक कर्कश कहे जाने वाले (रेखांकित) पदों का प्रयोग किया गया है। यही बात प्रायः समस्त संस्कृत-काव्य के सम्बन्ध में कही जा सकती है। वास्तव में

१—शब्द-मोहमयी रचनाएं शब्दों द्वारा किसी उपयुक्त मनो-दशा या दृष्ट वस्तु-संगठन को प्रकट नहीं करतीं। उनका कार्य शब्द-चेतना जगाना होता है, शब्दों द्वारा संवेदना जगाना नहीं।

जो लोग कालिदास की अपेक्षा जयदेव के 'गीतगोविन्द' में अधिक संगीत पाते हैं वे संगीत के, कम से कम साहित्यिक संगीत के, अधूरे मर्मज्ञ ही हैं। साहित्यगत संगीत शब्दों के विशिष्ट प्रयोग एवं सन्दर्भगत अर्थ पर अधिक निर्भर करता है और उसे अर्थ संगीत से अलग नहीं किया जा सकता। आई० ए० रिचर्ड्स ने ठीक ही लिखा है,

There are no gloomy and no gay vowels or syllables, and the army of critics who have attempted to analyse the effects of passages into vowel and consonantal collocations have, in fact, been merely amusing themselves. The way in which the sound of a word is taken varies with the emotion already in being. But further, it varies with the sense. (Principles of Literary criticism, पृ० १३७)

शब्दों की भांति चित्रों का जमघट भी पन्त में अधिक है। वस्तुतः पन्त में चित्र-विधान की असाधारण क्षमता है और उनके शब्द प्रायः मूर्त्त चित्रों के द्योतक होते हैं। यों भी प्रत्येक शब्द का कुछ-न-कुछ अर्थ रहता है और काव्य में वह कोई विशिष्ट भावना या मूर्त्ति उत्थित करता है। अतः शब्द-बाहुल्य के साथ कल्पनाशील पाठक की चेतना में बहुत से चित्रों का उतरना स्वाभाविक ही है। इस सम्बन्ध में विशेष हम अगले अधिकरण में लिखेंगे।

कल्पना का काम ज्ञात या अज्ञात भाव से अलंकारों का विधान करना है जिनके द्वारा अनुभूति को स्पष्टता एवं मूर्तिमत्ता मिलती है। कल्पना के मोह से हमारा तात्पर्य उस कल्पना-बाहुल्य से है जो अनुभूतिकी सशक्त अभिव्यक्ति में सहायक नहीं होता, अथवा उसके स्वरूप को स्पष्ट या मूर्त्त बनाने में सहायता नहीं देता। यहाँ भी हम पहले छायावादी पन्त के एक गद्य अवतरण का नमूना पेश करेंगे:—

कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द

सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हो; सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े; जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झङ्कार में चित्र, चित्र में झंकार हों; जिनका भाव-संगीत विद्युद्धारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके; जिनका सौरभ सूंघते ही साँसों-द्वारा अन्दर पैठ कर हृदयाकाश में समा जाय; जिनका रस मदिरा की फेन-राशि की तरह अपने प्याले से बाहर छलक उसके चारों ओर मोतियों की झालर की तरह झूलने लगे, अपने छत्ते में न समा कर मधु की तरह टपकने लगे; अर्धनिशीथ की तारावली की तरह जिनकी दीपावली अपनी मौन जड़ता के अन्धकार को भेद कर अपने ही भावों की ज्योति में दमक उठे; जिनका प्रत्येक चरण प्रियङ्गु की डाल की तरह अपने ही सौन्दर्य के स्पर्श से रोमाञ्चित रहे; जापान की द्वीप मालिका की तरह जिनकी छोटी-छोटी पंक्तियाँ अपने अन्तस्तल में सुलगी ज्वालामुखी को न दबा सकने के कारण अनन्त श्वासोच्छ्वासों के भूकम्प में काँपती रहें !

छायावाद की "स्पिरिट" समझने के लिए यह अवतरण असाधारण रूप में रोचक है। यह एक वाक्य का पैराग्राफ कल्पनाओं या उपमाओं से भरा है, और सहज ही बाणभट्ट की 'कादम्बरी' की याद दिलाता है। विभिन्न उपमाओं द्वारा लेखक किस विचार या विचारों को व्यक्त करना चाहता है, स्पष्ट नहीं है। रेखांकित वाक्य-खण्डों में एक ही-सी उपमाएँ हैं, और वे एक ही अर्थ का द्योतन करते हैं; फिर वे एकत्र न होकर दूर-दूर क्यों हैं? और क्या एक उपमा काफी नहीं थी, अनेक उपमाएँ क्या अभिव्यक्ति को स्पष्टतर बना रही हैं? सेब और लालिमा के उदाहरण का उसके पूर्वगामी वाक्यांश से कोई सम्बन्ध नहीं दीखता, यद्यपि दोनों को अर्धविराम से जोड़ा गया है। वस्तुतः इन उपमाओं को, जो यह प्रकट करती हैं कि शब्द का अर्थ शब्द की परिधि को लाँघ जाता है (शायद अनुषंग जगाने का हेतु होने के कारण) एक जगह होना चाहिए, और अन्य वाक्यों को अर्थानुक्रम से पास या दूर। किन्तु पन्त को इसका ध्यान नहीं है, उनका मस्तिष्क सुन्दर उपमाओं की सृष्टि या कल्पना में

लीन है !

कल्पनाओं के जमघट के कुछ पद्य नमूने भी देखिए,

कौन, कौन तुम परिहृत-वसना
म्लान-मना, भू-पतिता-सी
वात–हता-विच्छिन्न--लता–सी
रति–श्रान्ता ब्रज-वनिता-सी ?

गूढ़-कल्पना–सी कवियों की
अज्ञाता के विस्मय–सी
ऋषियों के गम्भीर-हृदय सी
बच्चों के तुतले--भय--सी;

इत्यादि [पल्लव–छाया]

इस कविता में इसी प्रकार प्रत्येक पद्य में कल्पनाओं या उत्प्रेक्षाओं की भीड़ है जो स्वयं अपना लक्ष्य हैं, जिनका विधान अनुभूति को प्रकट करने के लिए नहीं है। उदाहरण के लिये जहां प्रथम पद्य की पहली तीन पंक्तियां करुणा का भाव जगाती हैं वहां चौथी पंक्ति इस भाव को पुष्ट नहीं करती। इसी प्रकार द्वितीय पद्य की पंक्तियां भी असम्बद्ध हैं। वस्तुतः उत्प्रेक्षाओं का अनुक्रम ऐसा शिथिल है कि यदि विभिन्न पद्यों को स्थानान्तरित कर दिया जाय तो कविता को कोई क्षति नहीं पहुँचेगी। ए० सी० वार्ड ने लिखा है— A first principle of good writing is progress (Ninteen-Twenties, पृ० १७६) अर्थात् अच्छे लेख या रचना की पहली आवश्यकता है प्रगति; छायावादी रचनाओ में कल्पना-बाहुल्य आदि कारणों से इस प्रगति का अभाव है।

२

केन्द्रापगामी व्यञ्जना–प्रवृत्ति

इस अन्तिम दोष को हम केन्द्रापगामी प्रवृत्ति कह सकते हैं। कतिपय 'रोमाण्टिक' कवियों के आलोचकों ने इस दोष को लक्षित किया था, किन्तु, उनसे प्रभावित होते हुए भी, छायावादी कवि और आलोचक उसकी ओर ध्यान न दे सके। छायावाद के वर्तमान आलोचकों को भी इधर ध्यान देने का अवकाश नहीं मिला है।

स्कूल के विद्यार्थी भी जानते हैं कि प्रत्येक लेख या निबन्ध पराग्राफोंमें विभक्त होता है और प्रत्येक पैराग्राफमें एक केन्द्रगत विचार होता है। पैराग्राफ के सब वाक्य मिलकर इस केन्द्रगत विचार को पुष्ट या पल्लवित करते हैं। इसी प्रकार विभिन्न पैराग्राफ समग्र निबन्ध के आशय या विषय की पुष्टि अथवा स्पष्टीकरण के लिए होते हैं। प्रत्येक श्रेष्ठ गीत या कविता में भी इसी प्रकार अनुक्रम या व्यवस्था होती है। छायावादी कविताओं में इस व्यवस्था का मिलना दुर्लभ है।

कवि शेली की चित्र-सामग्री पर टीका करते हुए एफ० आर० लेविस ने लक्षित किया है...........a general tendency of the images to forget the status of the metaphor or simile that introduced them and to assume an autonomy and a right to propagate. [Revaluation, पृ० २०४] कि विशिष्ट चित्र प्रायः उस प्रमुख रूपक या उपमा के पद को भूल जाते हैं जिसके कारण उनका प्रवेश हुआ था, और अपने को स्वतन्त्र अथवा निरपेक्ष रूप में व्यापृत करने लगते हैं।' इसका फल यह होता है कि उस मुख्य रूपक या उपमा पर गौरव नहीं पड़ जाता और उसकी प्रभ-विष्णुता कम हो जाती है—पाठक का ध्यान अन्यत्र फँस कर रह जाता है। इस गड़बड़ी से कुछ ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जैसी उस दशा में होगी जब निबन्ध का प्रत्येक पैराग्राफ स्वयं निबन्ध के विषय को भूल कर अलग-अलग स्वतन्त्र विषय का प्रतिपादन करने लगे।

शब्दों, चित्रों, एवं कल्पनाओं की अराजकता से ऐसी स्थिति छायावादी कविताओं में अवसर उत्पन्न हो जाती है। जहां शब्द-बाहुल्य किसी एक शब्द के ध्वनि-संगीत अथवा अर्थ-संगीत को स्पष्ट अनुभूत नहीं होने देता वहां चित्रों एवं कल्पनाओं की बहुलता किसी चित्र अथवा कल्पना को मस्तिष्क पर ठीक से अंकित नहीं होने देती। कालिदास के—

गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिःस्याः

शृंगोच्छ्रायैः कुमुदविशदैं र्यो वितत्य स्थितः खम्
राशीभूतः प्रतिदिनमिवत्र्यम्बकस्याट्टहासः

[अर्थात्—इसके बाद चलकर (हे मेघ !) तू कैलास पर्वत का, जो देवांगनाओं के दर्पण का काम करता है, अतिथि बनना; वह कैलास अपने शिखरों की कुमुद्-सदृश शुभ्र ऊँचाइयों से आकाश को व्याप्त किए हुए ऐसा मालूम पड़ता है मानो शिवजी का दिन-दिन पुंजीभूत होने वाला अट्टहास हो !] इस पद्य में केवल दो ही कल्पनाएँ या उत्प्रेक्षाएँ हैं, एक यह कि हिमाच्छन्न कैलास-पर्वत मानो देवांगनाओं का दर्पण है, और दूसरी यह कि उसकी तुहिनराशि मानो शंकर का पुंजीभूत अट्टहास है। दोनों ही उत्प्रेक्षाएँ सुन्दर हैं, पर, क्योंकि दूसरी उत्प्रेक्षा अत्यन्त नवीन और अधिक सुन्दर है, इसलिए पाठक का ध्यान मुख्यत: उसी पर जाता है। दूसरे स्थान में अकेली होने पर पहली उत्प्रेक्षा भी काफी सुंदर या चमत्कार पूर्ण लग सकती थी। जहां दो उत्प्रेक्षाओं में यह गड़बड़ हो सकती है वहां दर्जनों उत्प्रेक्षाओं के जमघट में उन सब के सौन्दर्य पर क्या बीतेगी, इसका अनुमान सहृदय पाठक कर सकते हैं। [पंत की 'छाया' और 'नक्षत्र' कविताओं में उत्प्रेक्षाओं का ऐसा ही जमघट है।]

यहाँ ध्यान देने की एक बात यह है कि दूसरी उत्प्रेक्षा को प्रभविष्णु बनाने के लिए कालिदास को दो पंक्तियां खर्च करनी पड़ी है। हमारे छायावादी कवि अपने को इस प्रकार के अतिव्यय से बचाते हुए अत्यन्त पास पास शब्दों तथा चित्रों की भीड़ जमा कर देते हैं—वे एक ही पद्य में प्रकृति की सारी चित्रावली उपस्थित कर देना चाहते हैं। फल यह होता है कि एक भी चित्र या कल्पना पूरी नहीं उतरती। इस प्रकार की भीड़ पन्त में अधिक मिलती है।

कवि शैली के ढंग की केन्द्रापगामिता—गौण चित्रों में बहक जाने की प्रवृत्ति–भी पन्त में पाई जाती है, पर कुछ कम मात्रा में। उदाहरण के लिए 'पल्लव' के निम्न पद्य पर विचार कीजिए,

सुरपति के हम ही हैं अनुचर
जगत्प्राण के भी सहचर;

मेघदूत की सजल कल्पना
चातक के चिर-जीवनधर;
मुग्ध शिखी के नृत्य मनोहर— इत्यादि

× ×

जलाशयों में कमल-दलों-सा
हमें खिलाता नित दिनकर
पर बालक-सा वायुसकल-दल
बिखरा देता, चुन सत्वर; (बादल)

यहां वर्णन का विषय, उपमेय, बादल है; तृतीय पद्य के पूर्व-गामी पद्यों में उसके उपमानों का विस्तार है। तीसरे पद्य की प्रथम दो पंक्तियां इस अटूट क्रम के अनुकूल ही हैं; पर शेष दो पंक्तियां इस क्रम को भंग कर देती हैं। उनमें कवि कमल-दल उपमा से आकृष्ट होकर प्रकृत उपमेय 'बादल' को भूल जाता है। 'निराला' की निम्न कविता में यह दोष ज्यादा स्पष्ट है,

आज नहीं है और मुझे कुछ चाह
अर्धविकच इस हृदय-कमल में आ तू
प्रिये, छोड़ कर बन्धनमय छन्दों की छोटी राह!
गजगामिनि, वह पथ तेरा संकीर्ण
कण्टकाकीर्ण,
कैसे होगी उससे पार?
कांटों में अञ्चल के तेरे तार निकल आएँगे
और उलझ जाएगा तेरा हार
मैंने अभी अभी पहनाया
किन्तु नज़र भर देख न पाया—कैसा सुन्दर आया।
[प्रगल्भ प्रेम]

यह कविता खण्ड केन्द्रापगामिता का उत्कृष्ट उदाहरण है। हिन्दी मुक्त-छन्द का प्रवर्त्तक कवि अपनी कविता को संबोधित करके उसे हृदय-कमल में आने को आमन्त्रित कर रहा है। [प्रगल्भ प्रेमी नम्र होकर हृदय-कमल को अर्ध-विकच क्यों कह रहा है, यह समझ

में नहीं आता। इसी प्रकार पहली पंक्ति का दैन्य भी अप्रासंगिक है, अस्तु।] कवि उसको बंधनमय छन्दों की राह छोड़ने को 'कहता है, क्योंकि वह पथ संकीर्ण और कण्टकाकीर्ण है। यहां तक सब साफ है। किन्तु इसके बाद कवि असली विषय को भूल कर 'कण्टकाकीर्ण' विशेषण के मोह में पड़ जाता है, और कविता की गति उसी से निर्धारित होने लगती है। कण्टका कीर्ण पथ से कविता कैसे पार होगी? उसके अञ्चल के तार निकल जायँगे। इसके आगे 'तार' शब्द की तुक मिलाने के लिए 'हार' की स्थापना आवश्यक हो जाती है, और 'हार' शब्द के प्रयोग के बाद कवि को याद आता है—जिसे उसने अभी-अभी पहनाया था, और नज़र भर के देख भी न सका था कि वह गले पर कैसा सजा है।

यहाँ कवि यह भूल जाता है कि ऊपर प्रयुक्त 'कण्टकाकीर्ण' शब्द एक अलंकार, वर्णन का एक ढंग मात्र था, यथार्थ का उल्लेख नहीं, और उसका विशेष्य 'छोटी राह' थी। अलंकार को यथार्थ का महत्व देकर और दूसरे अलंकारों द्वारा दूर घसीट कर कवि ने मूल वक्तव्य के प्रभाव को एकदम नष्ट कर दिया है। निराला जी की रचना में यह दोष प्रचुर परिमाण में पाया जाता है।

महादेवी जी में भी केन्द्रापगामी प्रवृत्ति तीव्र है, पर वहाँ वह दूसरा रूप धारण कर लेती है। हम कह रहे हैं कि किसी भी रचना में अलकार-रूप में प्रयुक्त कल्पनाओं तथा चित्रों द्वारा केन्द्रगत भाव पुष्ट होना चाहिए। महादेवी जी प्रायः केन्द्रगत भाव के पृष्ठाधार (Background) का इतना विशद वर्णन कर देती हैं कि उसके आगे मूल भाव फीका पड़ जाता है। दूसरे शब्दों में उनकी अवतरणिका अपनी विशदता और विस्तार के कारण इतना महत्व अर्जन कर लेती है कि केन्द्रगत भाव पाठकों को कठिनता से दिखाई दे पाता है, और दीख कर उन्हें आकर्षित नहीं करता। कहीं-कहीं मुख्य बात अप्रधान और पृष्ठाधार का चित्रण प्रधान लगता है, और कहीं मुख्य भाव काव्यार्थ को विशेष दिशा देने के लिए ज़बर्दस्ती घुमाया मालूम पड़ता है। उदाहरण के लिए जब पाठक पढ़ता है:—

रजनी ओढ़े जाती थी झिलमिल तारों की जाली

तब उसे लगता है कि कविता का विषय रजनी या उसका वर्णन है, पर जब वह दूसरी पँक्ति पढ़ता है—

उसके बिखरे वैभव पर जब रोती थी उजियाली

तो उसे 'जब' शब्द से ज्ञात होता है कि यह किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उपक्रम मात्र है। इसके बाद वह उस घटना की प्रतीक्षा में आगे बढ़ता जाता है,

शशि को छूने मचली-सी लहरों का कर करने चुम्बन,
बेसुध तन की छाया का तटनी करती आलिंगन।
अपनी जब करुण कहानी कह जाता है मलयानिल
आंसू से भर जाता तब सूखा अवनी का अञ्चल;

क्या 'तब' शब्द उस प्रतीक्षित घटना का प्रवेश सूचित करता है? पर 'सूखी अवनी का अञ्चल आंसू से भर जाना' तो ऐसी महत्त्व-पूर्ण घटना नहीं मालूम होती जिसके लिए लम्बी-चौड़ी भूमिका अपेक्षित होती। शायद आगे रहस्य खुले!

पल्लव के डाल हिंडोले सौरभ सोता कलियों में,
छिप छिप किरणें आती जब मधु से सींची गलियों में।
आंखों में रात बिता जब विधु ने पीला मुख फेरा,
आया फिर चित्र बनाने प्राची में प्रात चितेरा।
कन कन में जब छायी थी वह नव यौवन की लाली'

अभी तक वह प्रतीक्षित घटना नहीं आयी, अभी जब का प्रयोग चल ही रहा है, यद्यपि कहीं-कहीं भूतकाल का संकेत शिथिल हो गया है, जैसे तृतीय पद्य के पूर्वार्द्ध में। इसके आगे की पंक्ति इस प्रकार है,

मैं निर्धन तब आई ले सपनों में भर कर डाली

सम्भवतः यही वह प्रतीक्षित घटना है, पर क्या इसके लिये इतनी भूमिका आवश्ययक थी? वस्तुतः ऊपर के पद्यों के गौण चित्र इस मुख्य चित्र से कहीं अधिक रंगीन और आकर्षक हैं। दूसरी बात यह है कि वे चित्र इस मुख्य चित्र को किसी प्रकार पुष्ट नहीं करते, मुख्य चित्र में स्वयं भी जान नहीं है।

या यह कहा जाय कि यह मुख्य चित्र नहीं है और शेष कविता ही मुख्य चित्र है ? उस दशा में 'जब' की आवृत्ति और 'तब' का प्रयोग निरर्थक हो जाते हैं—और यह शब्द पद्यों के पारस्परिक संबन्ध का प्राण हैं। दूसरा उदाहरण लीजिए,

थकी पलकें सपनों पर डाल
व्यथा में सोता हो आकाश
छलकता जाता हो चुपचाप
बादलों के उर से अवसाद ;
वेदना की वीणा पर देव
शून्य गाता हो नीरव राग
मिलाकर निःश्वासों के तार
गूँथती हो जब तारे रात;
उन्हीं तारक फूलों में देव
गूँथना मेरे पागल प्राण
हठीले मेरे छोटे प्राण !

यहाँ भी तृतीय पद्य का अर्थात् केन्द्रगत भाव पहले दो पद्यों के गौण-चित्रों की तुलना में कमजोर है। 'उन्हीं तारक फूलों में देव' यह पंक्ति केन्द्रगत भाव को द्वितीय पद्य से, एक कृत्रिम ढंग से, संबद्ध कर देती है; किन्तु इसी कारण से उसे प्रथम पद्य से पूर्णतया विच्छिन्न भी कर देती है। वस्तुतः तृतीय पद्य का भाव यहाँ ज़बर्दस्ती प्रविष्ट किया हुआ मालूम पड़ता है।

'प्रसाद' में भी इस प्रवृत्ति का अभाव नहीं है। 'आँसू' का उदाहरण लीजिये,

बस गई एक बस्ती है
स्मृतियों की इसी हृदय में
नक्षत्र लोक फैला है
जैसे इस नील निलय में
ये सब स्फुलिंग हैं मेरी
इस ज्वालामयी जलन के
कुछ शेष चिह्न हैं केवल
मेरे उस महामिलन के।

यहाँ प्रथम पद्य के पूर्वार्ध का आशय स्पष्ट करने के लिए उत्तरार्द्ध में एक उपमा दी गई है—हृदय में वैसे ही स्मृतियों की एक बस्ती बस गई है जैसे नील निलय (आकाश) में नक्षत्रों की। यहाँ तक सब ठीक है। किन्तु दूसरे पद्य में 'प्रसाद' जी प्रथम पद्य की इस उपमा को लेकर बढ़ चलते हैं, उपमा द्वारा मूल काव्य में गति लाने का प्रयास करते हैं, जो कृत्रिम है। 'यह सब स्फुलिंग हैं मेरे' आदि पद्य का प्रथम पद्य से कृत्रिम लगाव स्थापित किया गया है। यह लगाव यदि न रहता तो कोई हर्ज न था; 'आँसू' में लगाव-हीन पद्य-परम्पराओं का अभाव नहीं है।

केन्द्रापगामी व्यञ्जना-प्रवृत्ति सर्वत्र कविता के आशय को दुरूह बना देती है। पाठक सरलता से (और कभी-कभी प्रयत्न करने पर भी, जैसे 'अनामिका' के अवतरण में) केन्द्रगत भाव या वाक्य को नहीं पकड़ पाता जिसके कारण वह कविता-बद्ध विचारों को शृंखलित रूप में नहीं समझ सकता। फलतः कविता अस्पष्ट हो जाती है। छायावादी काव्य से लोगों को जो अस्पष्टता या दुरूहता की शिकायत रही है उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण उस काव्य की केन्द्रापगामी अभिव्यक्ति-शैली है। इसी से संबद्ध दोष अथवा उसका व्यापक रूप विचारगत या रागात्मक असामञ्जस्य है जो अस्पष्टता एवं असन्तोष का प्रचुर हेतु बन जाता है।

३

असामञ्जस्य—विचारगत और रागात्मक

बुद्धि की सर्वमान्य मनोवैज्ञानिक परिभाषा यह है कि वह सम्बन्धों को देखने एवं स्थापित करने की शक्ति है। व्यावहारिक क्षेत्र में हम चतुर पुरुष उसे कहते हैं जो साध्य और साधनों के सम्बन्ध को शीघ्रता से देख लेता है—किसी प्रश्न के सामने आते ही जिसकी दृष्टि शीघ्रता से उसके हल या हल के उपायों पर पहुँच जाती है। प्रतिभाशाली वैज्ञानिक असंबद्ध दीखनेवाली घटनाओं में सम्बन्ध-सूत्र खोज निकालता है जिसे हम प्राकृतिक नियम कहते हैं। इसी प्रकार प्रतिभाशाली समाजशास्त्री सामाजिक घटनाओं में तथा राजनीति-विशारद राजनैतिक परिवर्तनों में व्यवस्था या शृंखला स्थापित कर

देता है। हमारे लेखों या रचनाओं में भी शृंखला, व्यवस्था अथवा आन्तरिक सामञ्जस्य के रूप में हमारी बुद्धि प्रतिफलित रहती है। किसी लेखक या विचारक की महत्ता के दो मानदण्ड हैं, प्रथमतः हमें देखना चाहिए कि उसकी दृष्टि कितनी व्यापक है, उसके अनुभव की परिधि कितनी विशाल है और दूसरे यह कि उसके अनुभव-खण्ड (जिन्हें उसने भाषागत अभिव्यक्ति दी है) कहाँ तक परस्पर संबद्ध हो सके हैं। जीवन अथवा विचारगत विविधताओं को संबद्ध रूप में पाठकों के सामने रख सकना प्रतिभाशाली लेखकों की अन्यतम विशेषता है।

रचना-कला के उक्त नियम का कविता अपवाद नहीं है। जैसा कि मनोविज्ञान बतलाता है, बुद्धि और हृदय दो भिन्न शक्तियां नहीं हैं, वे एक ही चेतना के व्यापृत होने के दो ढंग हैं। अतः यह समझना भूल है कि कवि अथवा कविता का बुद्धि से कोई सरोकार नहीं है। वस्तुतः प्रत्येक कवि में प्रतिभा के अनुरूप बुद्धि भी होती है. महान् कलाकार में व्यापक दृष्टि के साथ महती बुद्धि भी प्रतिष्ठित रहती है। प्रत्येक अच्छे कलाकार मे कम-से-कम इतनी बुद्धि अवश्य रहनी चाहिये जिसके द्वारा वह अपनी अनुभूतियों को सामजस गठन या एकता दे सके। वस्तुतः श्रेष्ठ कलाकार की अनुभूति की, साधारण लोगों की तुलना में, यह विशेषता होती है कि वह जीवन एवं जगत की सार्थकताओं को संबद्ध रूप मे ग्रहण करती है। अच्छे कवियों या साहित्यकारों की रचना में अनुभूति के विविध अवयवों का ऐसा क्रमिक विन्यास, भावों का ऐसा व्यवस्थित आरोह-अवरोह रहता है कि पाठक बिना किसी असाधारण अवधान या प्रयास के उनके आशय को हृदयंगम करता और उसमें रस-लीन होता चलता है। तुलसी और कालिदास के काव्यों में हम यही पाते हैं।

विचारगत अथवा बौद्धिक (Logical) क्रम एवं सामञ्जस्य सब प्रकार की श्रेष्ठ रचना में होता है; दर्शन, भौतिक तथा अन्य शास्त्र, आलोचना, कोई क्षेत्र इसका अपवाद नहीं है। साधारणतः श्रेष्ठ काव्य में भी इस प्रकार का सामंजस्य रहता ही है; रामचरित-मानस, मेघदूत, रघुवंश, और शकुन्तला, शेक्सपियर के नाटकों आदि

में प्रायः कहीं भी यौक्तिक या विचारगत क्रम का भंग नहीं मिलेगा। वर्ड्सवर्थ कीट्स और रवीन्द्र की अधिकांश गीत कविताओं के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। किन्तु कवि शेली में यह क्रम या सामंजस्य कुछ कम मिलता है।

कविता जैसी कोमल वस्तु के बौद्धिक विश्लेषकों को, कुछ लोग शंका की दृष्टि से देखते हैं; शेली के साहित्यिक मूल्यांकन में मतभेद इसका प्रमाण है। बात यह है कि कविता में हम यौक्तिक क्रम के निर्वाह की उतनी अपेक्षा नहीं करते, वहाँ हम रागात्मक सामञ्जस्य की विशेष कामना करते हैं। वस्तुतः यौक्तिक क्रम की अपेक्षा रागात्मक सामञ्जस्य उच्चतर वस्तु है, उसका निर्वाह बौद्धिक धरातल के ऊपर अथवा उसे छोड़कर भी हो सकता है।[१] शेली की 'पश्चिम प्रभंजन' कविता में इसी प्रकार का रागात्मक सामञ्जस्य है। जहाँ कविता का भाव-क्रम हमारी रागात्मिका वृत्ति अथवा रसानुभूति को अकुंठित आनन्द देता है वहाँ यौक्तिक क्रम को लेकर आलोचना करना पांडित्य-प्रदर्शन (Pedantry) सा लगता है। किन्तु यहाँ यह याद रखना चाहिये कि रसानुभूति एवं यौक्तिक सामञ्जस्य परस्पर विरोधी नहीं है, वस्तुतः यदि किसी कविता में यौक्तिक व्यवस्था का का विशेष विपर्यय होगा तो वह रसानुभव को अवश्य ही क्षत करेगा।

जिन आलोचकों में रसग्रहण की क्षमता कम विकसित रहती है, वे प्रायः काव्य-विशेष के युक्तिगत या विचारगत क्रम को लेकर वाद-विवाद करने लगते हैं और ऐसी व्यञ्जनाओं में दोष निकालने लगते हैं जो वास्तव में रसानुभूति को हानि नहीं पहुँचाती। ऐसी आलोचना सहृदयों को खलती है। उदाहरण के लिए कुछ परीक्षकों ने (जिनमें शुक्लजी भी सम्मिलित हैं) छायावादी कवियों के 'स्वर्ण-युग' 'स्वर्ण-स्वप्न' आदि प्रयोगों से घोर असन्तोष प्रकट किया है और 'शेखरः एक जीवनी' 'साकेत—एक अध्ययन' 'गद्यमय जीवन'

१—काव्यगत तत्वों में जीवन सम्बन्ध (organic order) होना चाहिए जो यौक्तिक क्रम का विरोधी न होते हुए उससे उच्चतर वस्तु है। ऐसा सम्बन्ध ही रागात्मक सामञ्जस्य की अनुभूति उत्पन्न करता है।

आदि को भी कड़ा दृष्टि से देखा है। इसके विपरीत हमारा विचार है कि साहित्यिक आलोचना में रसानुभूति तथा रागात्मक सामंजस्य का विशेष ध्यान रखना चाहिए। किन्तु इस कसौटी का प्रयोग नितान्त कठिन है। रागात्मक सामंजस्य का निर्णय करने के लिए जिस सूक्ष्म अनुभव-शक्ति की अपेक्षा है वह कम पाठकों में रहती है। इसलिए इस क्षेत्र में आलोचनागत धांधली तथा मिथ्या आरोपों की काफी गुंजायश है। ऐसी दशा में ईमानदार आलोचक पाठकों की सहृदयता के उन्मेष में, उनकी रसानुभूति को उच्चतर धरातल पर साथ ले चलने की सम्भावना में, विश्वास करके ही आगे बढ़ सकता है।

कविता में यौक्तिक या विचारगत क्रम का भंग वहीं क्षम्य हो सकता है जहाँ वह रसानुभूति को क्षति नहीं पहुँचाता। किन्तु ऐसा कम अवसरों पर होता है—जब कवि का रागात्मक स्फुरण अथवा प्रेरणा विशेष तीव्र हो। रागात्मक तीव्रता विभिन्न भावों की युक्तिगत असंगति या दूरी को मानो अपने आवेश-आवेग में आप्लुत कर देती है। शैली की उल्लिखित कविता में यही होता है। इसके विपरीत कल्पना-बहुल काव्य में, जहाँ अनुभूति या प्रेरणा प्रबल नहीं होती, यौक्तिक विशृंखलता प्रायः रसानुभव में विघ्न उपस्थित करती है।

कभी–कभी विचारगत क्रम के निर्दोष दीखने पर भी रागात्मक सामंजस्य की कमी हो सकती है, पर प्रायः ऐसे स्थलों में, सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा, यौक्तिक क्रम-भंग दिखाया जा सकेगा। अतः जहां काव्य की परीक्षा में सहृदय-संवेद्य रागात्मक सामंजस्य को प्रधानता देनी चाहिए, वहां यौक्तिक क्रम को उपेक्षणीय नहीं समझना चाहिए। दूसरे, रागात्मक क्रम-भंग को प्रमाणित करने के लिए प्रायः सर्वत्र रचना का यौक्तिक विश्लेषण आवश्यक हो जाता है। वस्तुतः यौक्तिक विवेचना रसानुभूति की विरोधी न होकर उसके स्पष्टीकरण का अस्त्र है, और आलोचना में उससे डरना या उसे बचा कर चलने की चेष्टा हास्यास्पद है। हमारा अनुरोध केवल यही है कि प्रत्येक दशा में अन्तिम निर्णय रसग्राहिका वृत्ति के हाथ में रहना चाहिए।

छायावाद की बहुत-सी रचनाओं में विचारगत सामञ्जस्य का अभाव दिखाई देता है, और वह क्षम्य कोटि का नहीं, क्योंकि वह

रसानुभूति में बाधक होता है। और जहां साधारणतया देखने में विचारात्मक क्रम-भंग नहीं दीखता, ऐसा रागात्मक असामंजस्य भी पाया जाता है। नीचे हम विशेष कवियों में इन दोनों के उदाहरण देखेंगे।

'निराला' जी की रचनाओं में युक्तिगत क्रम का भंग या अभाव प्रायः दिखाई देता है जिसके फलस्वरूप वे पाठकों को दुरूह लगती हैं, उनकी समझ में ही नहीं आतीं। यह समझना भूल होगी कि 'निराला' जी की सब कविताएँ ऐसी हैं—वे पूर्णतया सुस्पष्ट रचनाएँ भी कर सकते हैं, पर, न जाने क्यों, अपनी काफी रचनाओं में वे स्पष्ट नहीं रह सके हैं। इसका कारण दार्शनिकता या रहस्यवाद में ढूँढ़ना अन्धकार-प्रियता का द्योतक है—कुछ लोगों में सीधी बात को भी रहस्यमय देखने या प्रकट करने की विचित्र प्रवृत्ति होती है। सीधे शब्दों में हम इसे कलाकार की असमर्थता का प्रमाण मानते हैं। कुछ उदाहरण लीजिए—

एक दिन थम जायगा रोदन
तुम्हारे प्रेम-अञ्चल में
लिपट स्मृति बन जायँगे कुछ कन-
कनक सींचे नयन जल में
जब कहीं झड़ जायँगे वे
कह न पाएगी
वह हमारी मौन भाषा
क्या सुनाएगी ?
दाग़ जब मिट जायगा
स्वप्न ही तो राग वह कहलायगा
फिर मिटेगा स्वप्न भी निर्धन
गगन-तम-सा प्रभा-पल में
तुम्हारे प्रेम-अञ्चल में

[परिमल—निवेदन]

यहां कवि वस्तुतः क्या कहना चाहता है, उसका केन्द्रगत भाव क्या है, यह बिलकुल स्पष्ट नहीं है। शब्द समझ में आते हैं पर उनका सम्बन्ध एक पहेली मालूम पड़ता है। नयन-जल से सींचे कन-कनक कौन से हैं ? उनसे लिपट कर स्मृति बनने का रोदन रुकने से क्या सम्बन्ध है ? फिर उनमें झड़ने की क्या सार्थकता है ? और इस एक परिस्थिति से (कन कहीं झड़ गये इस अज्ञान से) भाषा

मौन क्यों हो जायगी ? दाग कौन सा है जो मिट जायगा ? इत्यादि; प्रायः प्रत्येक पंक्ति के आगे प्रश्नवाचक लगाया जा सकता है। संपूर्ण कविता पढ़ कर एक विचित्र खीझ और परेशानी होती है। दूसरी कविता, उसी के आगे की, लीजिए,

जीवन प्रातसमीरण-सा लघु
विचरण निरत करो
तरु-तोरण-तृण-तृण की कविता
छवि-मधु-सुरभि भरो

पहली पंक्ति साफ है, पर दूसरी पंक्ति घण्टों सिर खरोचने पर भी समझ में नहीं आती। क्या यह पाठक का ही दोष है, और कवि उसके लिए बिलकुल जिम्मेदार नहीं है ? आगे की पंक्तियाँ भी विषय को स्पष्ट नहीं करती,

अंचल सा न करो चंचल
क्षण-भंगुर
नत नयनों में स्थिर दो बल,
अविचल उर
स्वर-सा कर दो अविनश्वर
ईश्वर-मज्जित
शुचि चन्दन-वन्दन-सुन्दर
मन्दर-मज़्जित
मेरे गगन-मगन मन में अयि
किरणमयी विचरो—
तरु-तोरण-तृण-तृण इत्यादि।
[परिमल–प्रार्थना]

यह तो समझ में आता है कि कवि किसी किरणमयी से प्रार्थना कर रहा है, पर वह किरणमयी कौन है जो जीवन को प्रात-समीरण सा लघु आदि करने की क्षमता रखती है यह बिलकुल स्पष्ट नहीं है। ·········अंचल सा चंचल न करो यह तो ठीक है, पर क्षणभंगुर विशेषण की क्या सार्थकता है ? अंचल में क्षणभंगुरता की प्रतीति विशेष रूप में नहीं होती। इसी प्रकार 'नयनों' के 'नत'

विशेषण की सार्थकता स्पष्ट नहीं है। पर शायद यह शिकायतें व्यर्थ हैं जब कि पूरी कविता ही निरर्थक शब्दाडम्बर प्रतीत होती है।

बाद की रचनाओं में भी 'निराला' जी ने स्पष्टता की दिशा में उन्नति नहीं की है। 'अनामिका' की प्रारंभिक दस कविताएँ प्रायः सभी अस्पष्ट या दुर्बोध हैं। 'सम्राट एडवर्ड अष्टम के प्रति' कविता, एक प्रसिद्ध घटना से संबद्ध होते हुए भी, बुद्धिगम्य नहीं है। पहला पद्य ही देखिए।

वीक्षण अराल:—
बज रहे जहाँ
जीवन का स्वर भर छन्द, ताल
मौन में मन्द्र,
ये दीपक जिसके सूर्य चन्द्र,
बँध रहा जहाँ दिग्देशकाल,
सम्राट उसी स्पर्श से खिली
प्रणय के प्रियङ्गु की डाल-डाल !

यहाँ रेखांकित पदों का संबन्ध बिलकुल स्पष्ट नहीं है, इसीलिये पूरा पद्य अस्पष्ट है।

'निराला' जी का "तुलसीदास" भी अस्पष्टता-रोग से पीड़ित है, और 'गीतिका' तो साधारण पाठक के समझ में आने योग्य है ही नहीं। इन साधारण पाठकों में लेखक अपनी भी गिनती करता है। पुस्तक के अन्त में दी हुई टिप्पणियों के बिना तो वह उसे पढ़ने का साहस ही नहीं कर सकता था। यदि यह टिप्पणियाँ कवि की सहायता से लिखी गई हैं तो वे 'निराला' जी को अस्पष्टता-दोष से मुक्ति नहीं देतीं; और यदि टिप्पणीकार ने स्वयं लिखी हैं तो वे उसके पाण्डित्य एवं अर्थ-स्थापन-क्षमता का अद्भुत निदर्शन हैं। दो-एक उदाहरण देखें—

पावन करो नयन !
रश्मि नभ-नील पर
सतत शत रूप धर

विश्व-छवि में उतर
लघु कर करो चयन !
प्रतनु शरदिन्दु-वर
पद्म-जल-बिन्दु पर
स्वप्न-जागृति सुघर
दुख निशि करो शयन !
[गीतिका, ६]

कविता रश्मि को संबोधित है। (यह सब टिप्पणीकार का अनुसरण करके कहा जा रहा है।) 'नभनील पर' का अर्थ है नीले आसमान में रहने वाली, लघुकर का अर्थ है हलके हाथ से (क्रिया-विशेषण)। कवि नील-नभ वासिनी किरण से कहता है कि विश्व-छवि में उतर कर चयन करो। किस वस्तु या किन चीजों का ? यह स्पष्ट नहीं है। सतत विशेषण की सार्थकता भी समझ में नहीं आती।······· दूसरा पद्य और भी दुर्व्याख्येय है। प्रतनु का अर्थ है दुबली पतली, कोमलांगी: शरदिन्दुवर = (तुम्हीं) शरत्काल की सुन्दर चन्द्र (हो)—[यह अर्थ शब्दों से नहीं निकलता, टिप्पणी-कार के अनुरोध से ही माना जा सकता है।] पद्म-जल-बिन्दु = कमल के आँसू [यह अर्थ भी स्वतः नहीं निकलता, पद्म पर जल-कन रहते हैं, उन्हें आंसू मानना आवश्यक नहीं।] स्वप्न-जागृति-सुघर = उसके स्वप्न में सुघर जागृति बन कर, अर्थात स्वप्न में प्रकाश के कारण कमल को जागृति का सुख प्राप्त होगा, इसलिये तुम उसकी सुघर जागृति बनकर, उस कमल की दुख-रात्रि में उसके आंसुओं पर शयन करो।

टिप्पणियों की सहायता से कविता का अर्थ लग जाता है, पर यह अर्थ लग जाना ही काफी नहीं है; भावों में संगति भी होनी चाहिए। रश्मि को कमल के आँसुओं पर सुलाने का आयोजन करते समय उसे शरदिन्दुवर कहना क्या सार्थकता रखता है ? परम्परा के अनुसार तो चन्द्रमा कमल को अप्रिय है। फिर रश्मि का साधा-रणतया चन्द्रमा से सादृश्य भी नहीं है—यहां सादृश्य ही नहीं, अभेद-कथन है, 'तुम्हीं शरदिन्दु हो'।·········इसके अतिरिक्त

यहाँ प्रथम पद्य के पूर्वार्ध का आशय स्पष्ट करने के लिए उत्तरार्द्ध में एक उपमा दी गई है—हृदय में वैसे ही स्मृतियों की एक बस्ती बस गई है जैसे नील निलय (आकाश) में नक्षत्रों की। यहाँ तक सब ठीक है। किन्तु दूसरे पद्य में 'प्रसाद' जी प्रथम पद्य की इस उपमा को लेकर बढ़ चलते हैं, उपमा द्वारा मूल काव्य में गति लाने का प्रयास करते हैं, जो कृत्रिम है। 'यह सब स्फुलिंग हैं मेरे' आदि पद्य का प्रथम पद्य से कृत्रिम लगाव स्थापित किया गया है। यह लगाव यदि न रहता तो कोई हर्ज न था; 'आँसू' में लगाव-हीन पद्य-परम्पराओं का अभाव नहीं है।

केन्द्रापगामी व्यञ्जना-प्रवृत्ति सर्वत्र कविता के आशय को दुरूह बना देती है। पाठक सरलता से (और कभी-कभी प्रयत्न करने पर भी, जैसे 'अनामिका' के अवतरण में) केन्द्रगत भाव या वाक्य को नहीं पकड़ पाता जिसके कारण वह कविता-बद्ध विचारों को शृंखलित रूप में नहीं समझ सकता। फलतः कविता अस्पष्ट हो जाती है। छायावादी काव्य से लोगों को जो अस्पष्टता या दुरूहता की शिकायत रही है उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण उस काव्य की केन्द्रापगामी अभिव्यक्ति-शैली है। इसी से संबद्ध दोष अथवा उसका व्यापक रूप विचारगत या रागात्मक असामञ्जस्य है जो अस्पष्टता एवं असन्तोष का प्रचुर हेतु बन जाता है।

३

असामञ्जस्य-विचारगत और रागात्मक

बुद्धि की सर्वमान्य मनोवैज्ञानिक परिभाषा यह है कि वह सम्बन्धों को देखने एवं स्थापित करने की शक्ति है। व्यावहारिक क्षेत्र में हम चतुर पुरुष उसे कहते हैं जो साध्य और साधनों के सम्बन्ध को शीघ्रता से देख लेता है—किसी प्रश्न के सामने आते ही जिसकी दृष्टि शीघ्रता से उसके हल या हल के उपायों पर पहुँच जाती है। प्रतिभाशाली वैज्ञानिक असंबद्ध दीखनेवाली घटनाओं में सम्बन्ध-सूत्र खोज निकालता है जिसे हम प्राकृतिक नियम कहते हैं। इसी प्रकार प्रतिभाशाली समाजशास्त्री सामाजिक घटनाओं में तथा राजनीति-विशारद राजनैतिक परिवर्तनों में व्यवस्था या शृंखला स्थापित कर

देता है। हमारे लेखों या रचनाओं में भी शृंखला, व्यवस्था अथवा आन्तरिक सामञ्जस्य के रूप में हमारी बुद्धि प्रतिफलित रहती है। किसी लेखक या विचारक की महत्ता के दो मानदण्ड हैं, प्रथमतः हमें देखना चाहिए कि उसकी दृष्टि कितनी व्यापक है, उसके अनुभव की परिधि कितनी विशाल है और दूसरे यह कि उसके अनुभव-खण्ड (जिन्हें उसने भाषागत अभिव्यक्ति दी है) कहाँ तक परस्पर संबद्ध हो सके हैं। जीवन अथवा विचारगत विविधताओं को संबद्ध रूप में पाठकों के सामने रख सकना प्रतिभाशाली लेखकों की अन्यतम विशेषता है।

रचना-कला के उक्त नियम का कविता अपवाद नहीं है। जैसा कि मनोविज्ञान बतलाता है, बुद्धि और हृदय दो भिन्न शक्तियां नहीं हैं, वे एक ही चेतना के व्यापृत होने के दो ढंग हैं। अतः यह समझना भूल है कि कवि अथवा कविता का बुद्धि से कोई सरोकार नहीं है। वस्तुतः प्रत्येक कवि में प्रतिभा के अनुरूप बुद्धि भी होती है, महान् कलाकार में व्यापक दृष्टि के साथ महती बुद्धि भी प्रतिष्ठित रहती है। प्रत्येक अच्छे कलाकार में कम-से-कम इतनी बुद्धि अवश्य रहनी चाहिये जिसके द्वारा वह अपनी अनुभूतियों को सामजस्य गठन या एकता दे सके। वस्तुतः श्रेष्ठ कलाकार की अनुभूति की, साधारण लोगों की तुलना में, यह विशेषता होती है कि वह जीवन एवं जगत की सार्थकताओं को संबद्ध रूप में ग्रहण करती है। अच्छे कवियों या साहित्यकारों की रचना में अनुभूति के विविध अवयवों का ऐसा क्रमिक विन्यास, भावों का ऐसा व्यवस्थित आरोह-अवरोह रहता है कि पाठक बिना किसी असाधारण अवधान या प्रयास के उनके आशय को हृदयंगम करता और उसमें रस-लीन होता चलता है। तुलसी और कालिदास के काव्यों में हम यही पाते हैं।

विचारगत अथवा बौद्धिक (Logical) क्रम एवं सामञ्जस्य इस प्रकार की श्रेष्ठ रचना में होता है; दर्शन, भौतिक तथा अन्य शास्त्र, आलोचना, कोई क्षेत्र इसका अपवाद नहीं है। साधारणतः श्रेष्ठ काव्य में भी इस प्रकार का सामंजस्य रहता ही है; रामचरित-मानस, मेघदूत, रघुवंश, और शकुन्तला, शेक्सपियर के नाटकों आदि

में प्रायः कहीं भी यौक्तिक या विचारगत क्रम का भंग नहीं मिलेगा। वर्डसवर्थ कीट्स और रवीन्द्र की अधिकांश गीत कविताओं के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। किन्तु कवि शेली में यह क्रम या सामंजस्य कुछ कम मिलता है।

कविता जैसी कोमल वस्तु के बौद्धिक विश्लेषकों को कुछ लोग शंका की दृष्टि से देखते हैं; शेली के साहित्यिक मूल्यांकन में मतभेद इसका प्रमाण है। बात यह है कि कविता में हम यौक्तिक क्रम के निर्वाह की उतनी अपेक्षा नहीं करते, वहाँ हम रागात्मक सामञ्जस्य की विशेष कामना करते हैं। वस्तुतः यौक्तिक क्रम की अपेक्षा रागात्मक सामञ्जस्य उच्चतर वस्तु है, उसका निर्वाह बौद्धिक धरातल के ऊपर अथवा उसे छोड़कर भी हो सकता है।[१] शेली की 'पश्चिम प्रभंजन' कविता में इसी प्रकार का रागात्मक सामञ्जस्य है। जहाँ कविता का भाव-क्रम हमारी रागात्मिका वृत्ति अथवा रसानुभूति को अकुंठित आनन्द देता है वहाँ यौक्तिक क्रम को लेकर आलोचना करना पांडित्य-प्रदर्शन (Pedantry) सा लगता है। किन्तु यहाँ यह याद रखना चाहिये कि रसानुभूति एवं यौक्तिक सामञ्जस्य परस्पर विरोधी नहीं है, वस्तुतः यदि किसी कविता में यौक्तिक व्यवस्था का का विशेष विपर्यय होगा तो वह रसानुभव को अवश्य ही क्षत करेगा।

जिन आलोचकों में रसग्रहण की क्षमता कम विकसित रहती है, वे प्रायः काव्य-विशेष के युक्तिगत या विचारगत क्रम को लेकर वाद-विवाद करने लगते हैं और ऐसी व्यञ्जनाओं में दोष निकालने लगते हैं जो वास्तव में रसानुभूति को हानि नहीं पहुँचाती। ऐसी आलोचना सहृदयों को खलती है। उदाहरण के लिए कुछ परीक्षकों ने (जिनमें शुक्लजी भी सम्मिलित हैं) छायावादी कवियों के 'स्वर्ण-युग' 'स्वर्ण-स्वप्न' आदि प्रयोगों से घोर असन्तोष प्रकट किया है और 'शेखर: एक जीवनी' 'साकेत—एक अध्ययन' 'गद्यमय जीवन'

१—काव्यगत तत्त्वों में जीवन सम्बन्ध (organic order) होना चाहिए जो यौक्तिक क्रम का विरोधी न होते हुए उससे उच्चतर वस्तु है। ऐसा सम्बन्ध ही रागात्मक सामञ्जस्य की अनुभूति उत्पन्न करता है।

आदि को भी कड़ा दृष्टि से देखा है। इसके विपरीत हमारा विचार है कि साहित्यिक आलोचना में रसानुभूति तथा रागात्मक सामंजस्य का विशेष ध्यान रखना चाहिए। किन्तु इस कसौटी का प्रयोग नितान्त कठिन है। रागात्मक सामंजस्य का निर्णय करने के लिए जिस सूक्ष्म अनुभव-शक्ति की अपेक्षा है वह कम पाठकों में रहती है। इसलिए इस क्षेत्र में आलोचनागत धांधली तथा मिथ्या आरोपों की काफी गुंजायश है। ऐसी दशा में ईमानदार आलोचक पाठकों की सहृदयता के उन्मेष में, उनकी रसानुभूति को उच्चतर धरातल पर साथ ले चलने की सम्भावना में, विश्वास करके ही आगे बढ़ सकता है।

कविता में यौक्तिक या विचारगत क्रम का भंग वहीं क्षम्य हो सकता है जहां वह रसानुभूति को क्षति नहीं पहुँचाता। किन्तु ऐसा कम अवसरों पर होता है—जब कवि का रागात्मक स्फुरण अथवा प्रेरणा विशेष तीव्र हो। रागात्मक तीव्रता विभिन्न भावों की युक्तिगत असंगति या दूरी को मानो अपने आवेश-आवेग में आप्लुत कर देती है। शेली की उल्लिखित कविता में यही होता है। इसके विपरीत कल्पना-बहुल काव्य में, जहाँ अनुभूति या प्रेरणा प्रबल नहीं होती, यौक्तिक विशृंखलता प्रायः रसानुभव में विघ्न उपस्थित करती है।

कभी-कभी विचारगत क्रम के निर्दोष दीखने पर भी रागात्मक सामंजस्य की कमी हो सकती है, पर प्रायः ऐसे स्थलों में, सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा, यौक्तिक क्रम-भंग दिखाया जा सकेगा। अतः जहां काव्य की परीक्षा में सहृदय-संवेद्य रागात्मक सामंजस्य को प्रधानता देनी चाहिए, वहां यौक्तिक क्रम को उपेक्षणीय नहीं समझना चाहिए। दूसरे, रागात्मक क्रम-भंग को प्रमाणित करने के लिए प्रायः सर्वत्र रचना का यौक्तिक विश्लेषण आवश्यक हो जाता है। वस्तुतः यौक्तिक विवेचना रसानुभूति की विरोधी न होकर उसके स्पष्टीकरण का अस्त्र है, और आलोचना में उनसे डरना या उसे बचा कर चलने की चेष्टा हास्यास्पद है। हमारा अनुरोध केवल यही है कि प्रत्येक दशा में अन्तिम निर्णय रसग्राहिका वृत्ति के हाथ में रहना चाहिए।

छायावाद की बहुत-सी रचनाओं में विचारगत सामञ्जस्य का अभाव दिखाई देता है, और वह क्षम्य कोटि का नहीं, क्योंकि वह

रसानुभूति में बाधक होता है। और जहां साधारणतया देखने में विचारात्मक क्रम-भंग नहीं दीखता,ऐसा रागात्मक असामंजस्य भी पाया जाता है। नीचे हम विशेष कवियों में इन दोनों के उदाहरण देखेंगे।

'निराला' जी की रचनाओं में युक्तिगत क्रम का भंग या अभाव प्रायः दिखाई देता है जिसके फलस्वरूप वे पाठकों को दुरूह लगती हैं, उनकी समझ में ही नहीं आतीं। यह समझना भूल होगी कि 'निराला' जी की सब कविताएँ ऐसी हैं—वे पूर्णतया सुस्पष्ट रचनाएँ भ' कर सकते हैं, पर, न जाने क्यों, अपनी काफी रचनाओं में वे स्पष्ट नहीं रह सके हैं। इसका कारण दार्शनिकता या रहस्यवाद में ढूँढ़ना अन्धकार-प्रियता का द्योतक है—कुछ लोगों में सीधी बात को भी रहस्यमय देखने या प्रकट करने की विचित्र प्रवृत्ति होती है। सीधे शब्दों में हम इसे कलाकार की असमर्थता का प्रमाण मानते हैं। कुछ उदाहरण लीजिए—

एक दिन थम जायगा रोदन
तुम्हारे प्रेम-अञ्चल में
लिपट स्मृति बन जायँगे कुछ कन-
कनक सींचे नयन जल में
जब कहीं झड़ जायँगे वे
कह न पाएगी
वह हमारी मौन भाषा
क्या सुनाएगी ?
राग जब मिट जायगा
स्वप्न ही तो राग वह कहलायगा
फिर मिटेगा स्वप्न भी निर्धन
गगन-तम-सा प्रभा-पल में
तुम्हारे प्रेम-अञ्चल में

[परिमल—निवेदन]

यहां कवि वस्तुतः क्या कहना चाहता है, उसका केन्द्रगत भाव क्या है, यह बिलकुल स्पष्ट नहीं है। शब्द समझ में आते हैं पर उनका सम्बन्ध एक पहेली मालूम पड़ता है। नयन-जल से सींचे कन-कनक कौन से हैं ? उनसे लिपट कर स्मृति बनने का रोदन रुकने से क्या सम्बन्ध है ? फिर उनमें झड़ने की क्या सार्थकता है ? और इस एक परिस्थिति से (कन कहाँ झड़ गये इस अज्ञान से) भाषा

मौन क्यों हो जायगी ? दाग कौन सा है जो मिट जायगा ? इत्यादि; प्रायः प्रत्येक पंक्ति के आगे प्रश्नवाचक लगाया जा सकता है। संपूर्ण कविता पढ़ कर एक विचित्र खीझ और परेशानी होती है। दूसरी कविता, उसी के आगे की, लीजिए,

जीवन प्रातसमीरण-सा लघु
विचरण निरत करो
तरु-तोरण-तृण-तृण की कविता
छवि-मधु-सुरभि भरो

पहली पंक्ति साफ है, पर दूसरी पंक्ति घण्टों सिर खरोंचने पर भी समझ में नहीं आती। क्या यह पाठक का ही दोष है, और कवि उसके लिए बिलकुल जिम्मेदार नहीं है ? आगे की पंक्तियाँ भी विषय को स्पष्ट नहीं करती,

अंचल सा न करो चंचल
क्षण-भंगुर
नत नयनों में स्थिर दो बल,
अविचल उर
स्वर-सा कर दो अविनश्वर
ईश्वर-मज्जित
शुचि चन्दन-वन्दन-सुन्दर
मन्दर-मज्जित
मेरे गगन-मगन मन में अयि
किरणमयी विचरो—
तरु-तोरण-तृण-तृण इत्यादि।
[परिमल-प्रार्थना]

यह तो समझ में आता है कि कवि किसी किरणमयी से प्रार्थना कर रहा है, पर वह किरणमयी कौन है जो जीवन को प्रात-समीरण सा लघु आदि करने की क्षमता रखती है यह बिलकुल स्पष्ट नहीं है। ....अंचल सा चंचल न करो यह तो ठीक है, पर क्षणभंगुर विशेषण की क्या सार्थकता है ? अंचल में क्षणभंगुरता की प्रतीति विशेष रूप में नहीं होती। इसी प्रकार 'नयनों' के 'नत'

विशेषण की सार्थकता स्पष्ट नहीं है। पर शायद यह शिकायतें व्यर्थ हैं जब कि पूरी कविता ही निरर्थक शब्दाडम्बर प्रतीत होती है।

बाद की रचनाओं में भी 'निराला' जी ने स्पष्टता की दिशा में उन्नति नहीं की है। 'अनामिका' की प्रारंभिक दस कविताएँ प्रायः सभी अस्पष्ट या दुर्बोध हैं। 'सम्राट एडवर्ड अष्टम के प्रति' कविता, एक प्रसिद्ध घटना से संबद्ध होते हुए भी, बुद्धिगम्य नहीं है। पहला पद्य ही देखिए।

वीक्षण अराल:—
बज रहे जहाँ
जीवन का स्वर भर छन्द, ताल
मौन में मन्द्र,
ये दीपक जिसके सूर्य चन्द्र,
बँध रहा जहाँ दिग्देशकाल,
सम्राट उसी स्पर्श से खिली
प्रणय के प्रियङ्गु की डाल-डाल!

यहाँ रेखांकित पदों का संबन्ध बिलकुल स्पष्ट नहीं है, इसीलिये पूरा पद्य अस्पष्ट है।

'निराला' जी का "तुलसीदास" भी अस्पष्टता-रोग से पीड़ित है, और 'गीतिका' तो साधारण पाठक के समक्ष में आने योग्य है ही नहीं। इन साधारण पाठकों में लेखक अपनी भी गिनती करता है। पुस्तक के अन्त में दी हुई टिप्पणियों के बिना तो वह उसे पढ़ने का साहस ही नहीं कर सकता था। यदि यह टिप्पणियाँ कवि की सहायता से लिखी गई हैं तो वे 'निराला' जी को अस्पष्टता-दोष से मुक्ति नहीं देतीं, और यदि टिप्पणीकार ने स्वयं लिखी हैं तो वे उसके पाण्डित्य एवं अर्थ-स्थापन-क्षमता का अद्भुत निदर्शन हैं। दो-एक उदाहरण देखें—

पावन करो नयन!
रश्मि नभ-नील पर
सतत शत रूप धर

विश्व-छवि में उतर
लघु कर करो चयन !
प्रतनु शरदिन्दु-वर
पद्म-जल-बिन्दु पर
स्वप्न-जागृति सुघर
दुख निशि करो शयन !

[गीतिका, ६]

कविता रश्मि को संबोधित है। (यह सब टिप्पणीकार का अनुसरण करके कहा जा रहा है।) 'नभनील पर' का अर्थ है नीले आसमान में रहने वाली, लघुकर का अर्थ है हलके हाथ से (क्रिया-विशेषण)। कवि नील-नभ वासिनी किरण से कहता है कि विश्व-छवि में उतर कर चयन करो। किस वस्तु या किन चीजों का ? यह स्पष्ट नहीं है। सतत विशेषण की सार्थकता भी समझ में नहीं आती।······· दूसरा पद्य और भी दुर्व्याख्येय है। प्रतनु का अर्थ है दुबली-पतली, कोमलांगी; शरदिन्दुवर =(तुम्हीं) शरत्काल की सुन्दर चन्द्र (हो)—[यह अर्थ शब्दों से नहीं निकलता, टिप्पणीकार के अनुरोध से ही माना जा सकता है।] पद्म-जल-बिन्दु = कमल के आँसू [यह अर्थ भी स्वतः नहीं निकलता, पद्म पर जल-कन रहते हैं, उन्हें आँसू मानना आवश्यक नहीं।] स्वप्न-जागृति-सुघर = उसके स्वप्न में सुघर जागृति बन कर, अर्थात स्वप्न में प्रकाश के कारण कमल को जागृति का सुख प्राप्त होगा, इसलिये तुम उसकी सुघर जागृति बनकर, उस कमल की दुख-रात्रि में उसके आंसुओं पर शयन करो।

टिप्पणियों की सहायता से कविता का अर्थ लग जाता है, पर यह अर्थ लग जाना ही काफी नहीं है; भावों में संगति भी होनी चाहिए। रश्मि को कमल के आँसुओं पर सुलाने का आयोजन करते समय उसे शरदिन्दुवर कहना क्या सार्थकता रखता है ? परम्परा के अनुसार तो चन्द्रमा कमल को अप्रिय है। फिर रश्मि का साधारणतया चन्द्रमा से सादृश्य भी नहीं है—यहां सादृश्य ही नहीं, अभेद-कथन है, 'तुम्हीं शरदिन्दु हो'।·········इसके अतिरिक्त

दूसरे पद्य में रश्मि को जो काम करने का आदेश हुआ है उसके लिए पद्य की भूमिका समीचीन नहीं मालूम पड़ती। एक दूसरा गीत लीजिए जो सम्भवतः दार्शनिक है,

कौन तम के पार—(रे कह)
अखिल-पल के स्रोत, जल-जग
गगन घन-घन-धार—(रे कह)
गन्ध-व्याकुल-कूल-उर-सर,
लहर-कच कर कमल मुख पर;
हर्ष-अलि हर स्पर्श-शर, सर,
गूँज बारम्बार !—(रे कह)

हमारा विश्वास है कि कोई भी पाठक, मात्र अपनी बुद्धि और कोष की सहायता से, इस पद्य का अर्थ नहीं कर सकता। टिप्पणी के अनुसार 'अखिल-पल के स्रोत' का अर्थ है, 'काल-स्वरूप के पल के प्रवाह' तथा 'जल-जग' का अर्थ है, स्थावर जंगम; फलितार्थ—यह स्थावर-जंगम अखिल के पल के प्रवाह हैं। 'गगन घन-घन-धार'—आकाश ही घनीभूत होकर मेघ की धारा बनता है। वास्तव में 'अखिल' का अर्थ 'काल स्वरूप' नहीं हो सकता और 'जल-जग' स्थावर जंगम का वाचक नहीं है। 'गगन घन-घन-धार' व्यञ्जना सुन्दर तथा संगीतपूर्ण है पर साधारणतया निरर्थक है। रहस्यमय उपनिषदों में भी ऐसी रहस्यपूर्ण पदावली कम होगी! हम यह नहीं कहते कि 'निराला' जी जान-बूझ कर निरर्थक या अस्पष्ट रचना में प्रवृत्त होते हैं, और न यह कि टिप्पणीकार ने जो अर्थ निकालने की कोशिश की है वे कल्पित हैं। हमारा अनुमान है कि 'निराला' जी के सोचने तथा व्यक्त करने का ढंग कुछ ऐसा असाधारण (Abnormal) है कि उनकी अनुभूति का "साधारणीकरण" नहीं हो पाता।

किन्तु ऐसी दशा में पाठकों को दोष देना घोर अन्याय है। साधारण विद्या-बुद्धि के पाठक 'निराला' जी की जैसी रचनाएँ न समझ सकने पर प्रायः उसका कारण अपने कम अध्ययन को समझ लेते हैं; इस प्रकार वे अपनी रसानुभूति में अविश्वास करना सीखते हैं। आलोचकों का आतंक उनकी इस भीरुता एवं अविश्वास-वृत्ति को

और भी बढ़ा देता है। हिन्दी काव्य की दृष्टि से यह आत्म-विश्वास की हानि वाञ्छनीय नहीं है।

पाठकों को आतंकित करने का आलोचकों के पास एक अत्यन्त सफल अस्त्र है—दर्शन। कोई कवि उच्च कोटि का दार्शनिक है, इसलिए वह पाठकों की समझ में नहीं आता। उदाहरण के लिये कहा जायगा कि 'निराला' जी की अन्तिम कविता जो हमने उद्धृत की है, दार्शनिक है। किन्तु दार्शनिकता का अर्थ न तो दुरूहता है और न कुछ प्रसिद्ध दार्शनिक सूत्रों या सिद्धान्तों को किसी तरह कविता के कलेवर में ठूँस देने की क्षमता। उदाहरण के लिए उपनिषद् ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है—एतस्माद्वा आत्मनः आकाशः संभूतः आकाशाद्वायु वायोरग्निरग्नेरापः अद्भ्यः पृथ्वी इत्यादि अर्थात् आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। इस स्पष्ट मन्तव्य को 'निराला' जी नितान्त दुरूह व्यञ्जना में बाँध कर कहते हैं—गगन जल-जल-धार–(रे कह)। यदि 'निराला' जी इस वक्तव्य को अधिक समर्थ भाषा में कहते तो भी कोई बड़े श्रेय की बात न होती, क्योंकि सिद्धांत उपनिषत्कार का आविष्कार है न कि 'निराला' जी का। फिर उसे व्यर्थ ही दुरूह बना कर उन्होंने अपनी दोहरी अशक्ति का परिचय दिया है—वे कोई नयी दार्शनिक बात नहीं सोच सकते और स्पष्ट मन्तव्य को सुस्पष्टतया व्यक्त भी नहीं कर सकते।

वस्तुतः अद्वैत वेदान्त की मान्यताओं की गन्ध या उल्लेख आ जाने से कोई कविता दार्शनिक नहीं हो जाती, उसे साम्प्रदायिक भले ही कहा जा सके। अंग्रेजी में डॉन कवि दार्शनिक कहा जाता है, पर उसमें कहीं प्लेटो, अरस्तू, डेकार्ट आदि के सिद्धान्तों को ठूँसने का प्रयत्न नहीं है। वस्तुतः आजकल हिन्दी में कोई दार्शनिक कवि नहीं है, दर्शन के ज्ञाता कवि भले ही हों। पंत के 'मौन-निमंत्रण' एवं 'निराला' की 'तुम तुंग हिमाचल शृंग' आदि रचनाओं में दार्शनिकता खोजना हमारे साहित्य की अप्रौढ़ता अथवा अनुन्नत होने का परिचायक है। स्वयं निराला जी को भी विश्वास है कि वे दार्शनिक हैं। एक जगह उन्होंने सीमित अहंकार से अपने दार्शनिक होने का दावा किया है। पन्त ने प्लेटो आदि के भावों का अपहरण किया है, यह सिद्ध करने का उपक्रम करते हुए वे लिखते हैं—'यद्यपि अपनी शिक्षा का

हाल पन्त जी ने नहीं लिखा, छिपा रक्खा है, तथापि एक जिज्ञासु दार्शनिक को वह धोखा नहीं दे सके' (पन्त जी और पल्लव) हिन्दी जैसे अर्ध-विकसित साहित्य का ही एक प्रसिद्ध लेखक 'जिज्ञासु'तथा 'दार्शनिक' पदों का ऐसा दुरुपयोग कर सकता है। हम फिर कहते हैं कि किसी भी दर्शन के कतिपय सिद्धान्त-सूत्रों का समावेश कर सकने का नाम दार्शनिकता नहीं है, असली दार्शनिकता जीवन और जगत के व्यापक सम्बन्धों को एक नई दृष्टि से देख सकने की क्षमता का नाम है। अंग्रेजी कवि डॉन में यह क्षमता विद्यमान है।

निराला जी में आलोचना-शक्ति की कमी नहीं है इसका प्रमाण उन्होंने अनेक स्थलों में दिया है; पर शायद वे उस शक्ति का उपयोग अपनी कविताओं के भाव-निर्वाह में कम करते हैं। उदाहरण के लिये उन्होंने 'पन्त जी और पल्लव' लेख में पन्त की कतिपय कमियों को बड़ी सूक्ष्मता से पकड़ा है। पन्त के शब्द-मोह को लक्षित करते हुए उन्होंने लिखा है—'परन्तु अधिकांश स्थलों में सुन्दर से सुन्दर भावों को उन्होंने बड़ी बुरी तरह नष्ट कर डाला है। यह केवल इसलिए कि यह भावों के सौन्दर्य पर उतना ध्यान नहीं देते, जितना शब्दों के सौन्दर्य पर।' अन्यत्र पन्त के एक उदाहरण की रवीन्द्र की पंक्तियों से तुलना करते हुए वे कहते हैं—'रवीन्द्र की दोनों पंक्तियाँ परस्पर सम्बद्ध हैं, पन्त जी की दोनों पंक्तियाँ एक-दूसरे से अलग।' इस उद्धरण में पन्त की उस कमी का उल्लेख है जिसे हम असामञ्जस्य नाम से अभिहित कर रहे हैं। उक्त लेख में निराला जी ने पन्त के इस दोष का बार बार उल्लेख किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने पन्त की एक कविता का विश्लेषण विशेष मार्मिकता से किया है; हम उसे समग्रता में उद्धृत करेंगे :—

> छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
> तोड़ प्रकृति से भी माया,
> बाले! तेरे बाल जाल से कैसे उलझा दूँ लोचन?
> भूल अभी से इस जग को"

'वही हालत इन पंक्तियों की भी है। कवि 'बाला' के 'बाल जाल' से छूट कर 'द्रुमों की मृदु छाया' में तथा 'प्रकृति की माया'

में जीवित रहना चाहता है। यहाँ भी कला से विपरीत रति कराई गई है, जो निहायत अस्वभाविक हो गई है। अगर 'बाला' के 'बाल-जाल' से छूटने का निश्चय है, तो छूट कर जहां ठहरिये, उसे दिखलाइए कि वह स्वभावतः 'बाला' के 'बाल-जाल' से ज्यादा आकर्षक है। अगर छूटे तो द्रुमों की मृदु छाया में क्या करने गए? प्रकृति से माया जोड़ने की क्या आवश्यकता थी?—प्रकृति में ही रहे, तो उत्कृष्ट को छोड़ कर निकृष्ट को क्यों ग्रहण किया?—प्रकृति में 'बाला' से और मधुर क्या होगा?—'बाला' को छोड़ कर प्रकृति से परे जाते, तो जरूर आकर्षक बन जाता। यहाँ कला का पतन है—उसके स्वभाविक विकास की प्रतिकूलता का दोष आ गया है। यदि कोई कहे कि इस तरह एक विशाल प्रकृति में 'बाला' के बाल-जाल' को छोड़ कर कवि अपने को मिला देना चाहता है, तो उत्तर यह है कि उस तरह प्रकृति को बाला के बाल-जाल से स्वभावतः मधुर होना चाहिये। जहाँ बाला के बाल-जाल मिलते हों वहां मनुष्य के स्वभाव को द्रुमों की शीतल छाया कब पसन्द होगी? इस कविता के अन्यान्य पद भी इसी तरह कला को पतन की ओर झुका देते हैं।'

[पन्त जी और पल्लव]

'निराला' जी की सूक्ष्म रसानुभूति सराहनीय है, पर शायद उनका विश्लेषण अपूर्ण है। बात यह है कि 'द्रुमों की छाया' तथा 'प्रकृति से माया' और बाल-जाल' के चित्रों में कोई सामंजस्य नहीं है। 'बाल-जाल' में उलझने की अनिच्छा या अनुरक्तता का 'द्रुमों की छाया' के विशिष्ट चित्र से क्या सम्बन्ध है? क्या 'द्रुमों की छाया' बाल-जाल से कोई समानता रखती है और उसके समान या उससे अधिक आकर्षक लगती है? फिर फिर 'प्रकृति से माया' तोड़ने की क्या सार्थकता है? वस्तुतः स्वयं प्रकृति का उल्लेख हो जाने पर द्रुम-छाया आदि का उल्लेख अनावश्यक हो जाता है, क्योंकि ये प्रकृति के ही अंग हैं। इसी पंक्ति में 'भी' का प्रयोग और भी निरर्थक है। चित्र-गत भाव या संगति की दृष्टि से इस कविता का तीसरा पद्य ठीक है,

कोकिल का वह कोमल बोल,
मधुकर की वीणा अनमोल,

कह तब तेरे ही प्रिय स्वर से कैसे भर लूँ
सजनि, श्रवन !
भूल अभी से इस जग को—

कोयल का बोल सुन्दर है, मधुकर की वीणा अनमोल है, फिर बाला के स्वर में ही क्या विशेषता है कि कवि उसे सुनता रहे। पाठक देख सकते हैं कि प्रथम पद्य की इस प्रकार की व्याख्या संभव नहीं है, यही 'निराला' जी की शिकायत का मूल कारण है।[१] आशा है

१—शायद निम्न कविता में, जिसकी भावभूमि पन्त की उक्त कविता से मिलती-जुलती है, इस प्रकार के असाभंजस्य की शिकायत न हो:—

तुम्हारे अधरों की समता
बनाती प्रिय पुष्पों के दल,
तुम्हारी स्मिति की व्याख्या-सी
उषा की आभा स्वर्णोज्ज्वल !
अपांगों का शुचि शुभ्र विलास
बनाता ज्योत्स्ना को सुन्दर,
प्रेम की निर्मलता से प्रिये
सरित का जल लगता शुचितर !
तुम्हारी केश-स्मृति काली
निशातम को करती प्यारा,
कटाक्षों की हर चञ्चल याद
चमकने लगती बन तारा !
सोचता था मैं केवल प्रिये
एक तुमको ही करना प्यार,
हो गया पर वे धोखे में आज
अखिल जग का मुझ पर अधिकार !
[प्रणय-गीत]

पाठक कृपया नोट करें कि कविताओं की यह तुलना केवल सामञ्जस्य को लेकर की गई है। ऐसा ही आगे की तुलनाओं में भी समझें।

इस लम्बी-चौड़ी विवेचना द्वारा पाठकों के हृदय पर रागात्मक (तथा विचारगत) सामञ्जस्य का आशय अंकित हो गया होगा।

छायावादी काव्य में असामंजस्य दोष की, जो कविता के रचना सौष्ठव एवं स्पष्टता, दोनों पर समान रूप में आघात करता है, जड़ें कितने व्यापक तथा गहरे रूप में फैली हैं, यह सोचते हुए भय होता है। इसे हिन्दी का दुर्भाग्य ही समझना चाहिये कि उसके एतत्कालीन कवि, प्रतिभाशाली होते हुए भी, अपनी बहुसंख्यक रचनाओं को सुबोध और सरस नहीं बना पाते। इसका मुख्य कारण, हमारी समझ में, अनुभूति के साथ कल्पना का अनुचित हस्तक्षेप है। 'पल्लव' में अनुभूति का रंग गहरा है, इसलिए कहीं कहीं विचारगत असामंजस्य रस-भंग नहीं करता; फिर भी अनेक कविताओं की रचना शिथिल है जिसके कारण रसानुभूति परिपूर्ण नहीं हो पाती, यद्यपि इन कविताओं में सुन्दर पंक्तियों एवं पद्यों की प्रचुरता है।। 'अनंग' कविता के निम्न पद्यों में रागात्मक सामञ्जस्य एकदम नष्ट हो गया है।

बजा दीर्घ सांसों की भेरी,
सजा सटे-कुच कलशाकार,
पलक-पांवड़े बिछा, खड़े कर
रोओं में पुलकित-प्रतिहार;
बाल-युवतियां तान कान तक
चल-चितवन के बन्दनवार
देव! तुम्हारा स्वागत करतीं
खोल सतत-उत्सुकता-द्वार।

यहाँ दूसरे पद्य के चित्र जितने सुन्दर हैं, प्रथम के उतने ही अस्पष्ट या भद्दे; 'दीर्घ सांसों की भेरी' तथा 'सटे-कुच कलशाकार' हमारी सौन्दर्यानुभूति पर कठोर आघात करते हैं, और पद्यों के सुन्दर भाव को छिन्न कर देते हैं। 'आवाहन' कविता की भी रचना शिथिल और सौन्दर्य दृष्टि अस्थिर है,

विपुल भावनाओं का हार;
सरिता के चिकने-उपलों-सी
मेरी इच्छाएँ रंगीन,
वह अजानता की सुन्दरता,
वृद्ध-विश्व का रूप नवीन;

प्रथम पद्य का भाव-सौन्दर्य जितना कोमल एवं सरस है उतना दूसरे का नहीं, अन्तिम पंक्ति में 'वृद्ध' विशेषण का प्रयोग कोमल भावोन्मेष में रसभंग उपस्थित कर देता है।

महादेवी के काव्य में कल्पना का प्राधान्य है, और शायद इसीलिए रागात्मक सामञ्जस्य का विशेष अभाव है। किन्तु उनका सूक्ष्म गुम्फन पाठक को प्रायः समग्र कविता पर एक साथ दृष्टि डालने से रोकता है जिसके फल-स्वरूप वे इस कमी को नहीं देख पाते। इस परिस्थिति का दूसरा फल यह है कि उनकी कविताएँ हमें कभी रससिक्त नहीं करतीं। पाठकों का मस्तिष्क चित्रण की बारीकी में इतना उलझ जाता है कि उनकी रागात्मिका वृत्ति को उन्मिषित होने का समय ही नहीं मिलता। 'नीहार' की एक कविता का प्रथम पद्य इस प्रकार है,

निश्वासों का नीड़ निशा का
बन जाता जब शयनागार;
लुट जाते अभिराम छिन्न
मुक्तावलियों के बन्दनवार,
तब बुझते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार,
आँसू से लिख लिख जाता है, 'कितना अस्थिर है संसार'!

इस पद्य में संसार को 'अस्थिर' कहा गया है; अगले पद्यों में क्रमशः उसे 'मादक' 'निष्ठुर' और 'पागल' वर्णित कराया गया है। इन विशेषणों के प्रयोग में कोई विचारगत क्रम नहीं है। वस्तुतः 'अस्थिर' विशेषण सबसे तीव्र या तीखा है और यदि वह सबसे अन्त में आता, तो अधिक उचित होता।

'नीरजा और 'सांध्यगीत' में महादेवी जी में एक दूसरी प्रवृत्ति दिखाई देती है। वहाँ उनकी कविताओं का आरंभ अतीव आकर्षक

पंक्तियों से होता है, किन्तु कविताओं के कलेवर में उन पंक्तियों का निर्वाह नहीं हो पाता। ऐसा लगता है कि कवयित्री के दिमाग में एक सुन्दर पंक्ति गूँजने लगती है और वे उस पंक्ति का उपयोग करने के लिए एक पूरी कविता लिख डालती हैं। किन्तु शेष कविता में अनुभूति उनका साथ देती नहीं दिखाई पड़ती। उनकी कुछ पंक्तियाँ देखिए:—

'दिया क्यों जीवन का वरदान?';'प्राणों के अन्तिम पाहुन'; 'तुम्हें बांध पाती सपने में?'; 'कौन तुम मेरे हृदय में?'; 'बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ'; 'प्राण कि प्रिय-नाम रे कह!', 'मैं नीर भरी दुख की बदली!' इत्यादि। इनमें सम्भवतः तीसरी पंक्ति का ही कविता के कलेवर में उचित निर्वाह हो पाया है। पहली पंक्तिवाली कविता लीजिए,

> दिया क्यों जीवन का वरदान ?
> इसमें है स्मृतियों का कम्पन
> सुप्त व्यथाओं का उन्मीलन
> स्वप्न लोक की परियां इसमें
> भूल गईं मुस्कान !

जीवन का वरदान क्यों दिया यह पहली पंक्ति उपालंभ-मूलक है, उलाहनामय है, अतः आगे कवि को बतलाना चाहिए कि जीवन में कितनी असफलताएँ हैं, जिसके कारण उसका वरदान वांछनीय नहीं है। पहली दो पंक्तियों को उपालंभ का पोषक माना जा सकता है, किन्तु अन्तिम पंक्ति—स्वप्न लोक की परियां इत्यादि—इस कोटि में नहीं आ सकती। 'तुमने जीवन का वरदान क्यों दिया, इसमें तो स्वप्न लोक की परियां मुस्कान भूल गई हैं' यह तर्क विचित्र-सा लगता है। यह कविता रश्मि की है।[१] 'नीरजा' की एक प्रसिद्ध कविता देखें,

---

१—यदि इस पंक्ति का दूसरा यह अर्थ है कि—'यह जीवन इतना नीरस है कि यहाँ स्वप्न-लोक की परियां मुस्कराना भूल गई हैं'? इस दशा में परियों को स्वप्न-लोक की (अनात्मिक) बतलाना 'मुस्कान भूलने' की घटना को कल्पित अथवा असामिक बना देगा। स्वच्छन्द प्राणियों के सुख-दुख की इतनी चिन्ता क्यों?

दूसरे पद्य में रश्मि को जो काम करने का आदेश हुआ है उसके लिए पद्य की भूमिका समीचीन नहीं मालूम पड़ती। एक दूसरा गीत लीजिए जो सम्भवतः दार्शनिक है,

कौन तम के पार— (रे कह)
अखिल-पल के स्रोत, जल-जग
गगन घन-घन-धार—(रे कह)
गन्ध-व्याकुल-कूल-उर-सर,
लहर-कच कर कमल मुख पर,
हर्ष-अलि हर स्पर्श-शर, सर,
गूँज बारम्बार !—(रे कह)

हमारा विश्वास है कि कोई भी पाठक, मात्र अपनी बुद्धि और कोष की सहायता से, इस पद्य का अर्थ नहीं कर सकता। टिप्पणी के अनुसार 'अखिल-पल के स्रोत' का अर्थ है, 'काल स्वरूप के पल के प्रवाह' तथा 'जल-जग' का अर्थ है, स्थावर जंगम; फलितार्थ—यह स्थावर-जंगम अखिल के पल के प्रवाह हैं। 'गगन घन-घन-धार'— आकाश ही घनीभूत होकर मेघ की धारा बनता है। वास्तव में 'अखिल' का अर्थ 'काल स्वरूप' नहीं हो सकता और 'जल-जग' स्थावर जंगम का वाचक नहीं है। 'गगन घन-घन-धार' व्यञ्जना सुन्दर तथा संगीतपूर्ण है पर साधारणतया निरर्थक है। रहस्यमय उपनिषदों में भी ऐसी रहस्यपूर्ण पदावली कम होगी! हम यह नहीं कहते कि 'निराला' जी जान-बूझ कर निरर्थक या अस्पष्ट रचना में प्रवृत्त होते हैं, और न यह कि टिप्पणीकार ने जो अर्थ निकालने की कोशिश की है वे कल्पित हैं। हमारा अनुमान है कि 'निराला' जी के सोचने तथा व्यक्त करने का ढंग कुछ ऐसा असाधारण (Abnormal) है कि उनकी अनुभूति का "साधारणीकरण" नहीं हो पाता।

किन्तु ऐसी दशा में पाठकों को दोष देना घोर अन्याय है। साधारण विद्या-बुद्धि के पाठक 'निराला' जी की जैसी रचनाएँ न समझ सकने पर प्रायः उसका कारण अपने कम अध्ययन को समझ लेते हैं; इस प्रकार वे अपनी रसानुभूति में अविश्वास करना सीखते हैं। आलोचकों का आतंक उनकी इस भीरुता एवं अविश्वास-वृत्ति को

और भी बढ़ा देता है। हिन्दी काव्य की दृष्टि से यह आत्म-विश्वास की हानि वाञ्छनीय नहीं है।

पाठकों को आतंकित करने का आलोचकों के पास एक अत्यन्त सफल अस्त्र है—दर्शन। कोई कवि उच्च कोटि का दार्शनिक है, इसलिए वह पाठकों की समझ में नहीं आता। उदाहरण के लिये कहा जायगा कि 'निराला' जी की अन्तिन कविता जो हमने उद्धृत की है, दार्शनिक है। किन्तु दार्शनिकता का अर्थ न तो दुरूहता है और न कुछ प्रसिद्ध दार्शनिक सूत्रों या सिद्धान्तों को किसी तरह कविता के कलेवर में ठूँस देने की क्षमता। उदाहरण के लिए उपनिषद् ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है—एतस्माद्वा आत्मनः आकाशः संभूतः आकाशाद्वायु र्वायोरग्निरग्नेरापः अद्भ्यः पृथ्वी इत्यादि अर्थात् आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। इस स्पष्ट मन्तव्य को 'निराला' जी नितान्त दुरूह व्यञ्जना में बाँध कर कहते हैं—गगन जल-जल-धार—(रे कह)। यदि 'निराला' जी इस वक्तव्य को अधिक समर्थ भाषा में कहते तो भी कोई बड़े श्रेय की बात न होती, क्योंकि सिद्धांत उपनिषत्कार का आविष्कार है न कि 'निराला'जी का। फिर उसे व्यर्थ ही दुरूह बना कर उन्होंने अपनी दोहरी अशक्ति का परिचय दिया है—वे कोई नयी दार्शनिक बात नहीं सोच सकते और स्पष्ट मन्तव्य को सुस्पष्टतया व्यक्त भी नहीं कर सकते।

वस्तुतः अद्वैत वेदान्त की मान्यताओं की गन्ध या उल्लेख आ जाने से कोई कविता दार्शनिक नहीं हो जाती, उसे साम्प्रदायिक भले ही कहा जा सके। अंग्रेजी में डॉन कवि दार्शनिक कहा जाता है, पर उसमें कहीं प्लेटो, अरस्तू, डेकार्ट आदि के सिद्धान्तों को ठूँसने का प्रयत्न नहीं है। वस्तुतः आजकल हिन्दी में कोई दार्शनिक कवि नहीं है, दर्शन के ज्ञाता कवि भले ही हों। पंत के 'मौन-निमंत्रण' एवं 'निराला' की 'तुम तुंग हिमाचल शृंग' आदि रचनाओं में दार्शनिकता देखना हमारे साहित्य की अप्रौढता अथवा अनुन्नत होने का परिचायक है। स्वयं निराला जी को भी विश्वास है कि वे दार्शनिक हैं। एक जगह उन्होंने विचित्र अहंकार से अपने दार्शनिक होने का दावा किया है। पन्त ने रवीन्द्र आदि के भावों का अपहरण किया है, यह सिद्ध करने का उपक्रम करते हुए वे लिखते हैं—'यद्यपि अपनी शिक्षा का

हाल पन्त जी ने नहीं लिखा, छिपा रक्खा है, तथापि एक जिज्ञासु दार्शनिक को वह धोखा नहीं दे सके' (पन्त जी और पल्लव) हिन्दी जैसे अर्ध-विकसित साहित्य का ही एक प्रसिद्ध लेखक 'जिज्ञासु' तथा 'दार्शनिक' पदों का ऐसा दुरुपयोग कर सकता है। हम फिर कहते हैं कि किसी भी दर्शन के कतिपय सिद्धान्त-सूत्रों का समावेश कर सकने का नाम दार्शनिकता नहीं है, असली दार्शनिकता जीवन और जगत के व्यापक सम्बन्धों को एक नई दृष्टि से देख सकने की क्षमता का नाम है। अंग्रेजी कवि डॉन में यह क्षमता विद्यमान है।

निराला जी में आलोचना-शक्ति की कमी नहीं है इसका प्रमाण उन्होंने अनेक स्थलों में दिया है; पर शायद वे उस शक्ति का उपयोग अपनी कविताओं के भाव-निर्वाह में कम करते हैं। उदाहरण के लिये उन्होंने 'पन्त जी और पल्लव' लेख में पन्त की कतिपय कमियों को बड़ी सूक्ष्मता से पकड़ा है। पन्त के शब्द-मोह को लक्षित करते हुए उन्होंने लिखा है—'परन्तु अधिकांश स्थलों में सुन्दर से सुन्दर भावों को उन्होंने बड़ी बुरी तरह नष्ट कर डाला है। यह केवल इसलिए कि यह भावों के सौन्दर्य पर उतना ध्यान नहीं देते, जितना शब्दों के सौन्दर्य पर।' अन्यत्र पन्त के एक उदाहरण की रवीन्द्र की पंक्तियों से तुलना करते हुए वे कहते हैं—'रवीन्द्र की दोनों पंक्तियाँ परस्पर सम्बद्ध हैं, पन्त जी की दोनों पंक्तियाँ एक-दूसरे से अलग।' इस उद्धरण में पन्त की उस कमी का उल्लेख है जिसे हम असामञ्जस्य नाम से अभिहित कर रहे हैं। उक्त लेख में निराला जी ने पन्त के इस दोष का बार बार उल्लेख किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने पन्त की एक कविता का विश्लेषण विशेष मार्मिकता से किया है; हम उसे समग्रता में उद्धृत करेंगे :—

> छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
> तोड़ प्रकृति से भी माया,
> बाले! तेरे बाल जाल से कैसे उलझा दूँ लोचन!
> भूल अभी से इस जग को"

'वही हालत इन पंक्तियों की भी है। कवि 'बाला' के 'बाल जाल' से छूट कर 'द्रुमों की मृदु छाया' में तथा 'प्रकृति की माया'

में जीवित रहना चाहता है। यहाँ भी कला से विपरीत रति कराई गई है, जो निहायत अस्वभाविक हो गई है। अगर 'बाला' के 'बाल-जाल' से छूटने का निश्चय है, तो छूट कर जहां ठहरिये, उसे दिखलाइए कि वह स्वभावतः 'बाला' के 'बाल-जाल' से ज्यादा आकर्षक है। अगर छूटे तो द्रुमों की मृदु छाया में क्या करने गए? प्रकृति से माया जोड़ने की क्या आवश्यकता थी?—प्रकृति में ही रहे, तो उत्कृष्ट को छोड़ कर निकृष्ट को क्यों ग्रहण किया?—प्रकृति में 'बाला' से और मधुर क्या होगा?—'बाला' को छोड़ कर प्रकृति से परे जाते, तो जरूर आकर्षक बन जाता। यहाँ कला का पतन है—उसके स्वभाविक विकास की प्रतिकूलता का दोष आ गया है। यदि कोई कहे कि इस तरह एक विशाल प्रकृति में 'बाला' के बाल-जाल' को छोड़ कर कवि अपने को मिला देना चाहता है, तो उत्तर यह है कि उस तरह प्रकृति को बाला के बाल-जाल से स्वभावतः मधुर होना चाहिये। जहाँ बाला के बाल-जाल मिलते हों वहां मनुष्य के स्वभाव को द्रुमों की शीतल छाया कब पसन्द होगी? इस कविता के अन्यान्य पद भी इसी तरह कला को पतन की ओर झुका देते हैं।'

[पन्त जी और पल्लव]

'निराला' जी की सूक्ष्म रसानुभूति सराहनीय है, पर शायद उनका विश्लेषण अपूर्ण है। बात यह है कि 'द्रुमों की छाया' तथा 'प्रकृति की माया' और बाल-जाल' के चित्रों में कोई सामंजस्य नहीं है। 'बाल-जाल' में उलझने की अनिच्छा या अनुपयुक्तता का 'द्रुमो की छाया' के विशिष्ट चित्र से क्या सम्बन्ध है? क्या 'द्रुमों की छाया' बाल-जाल से कोई समानता रखती है और उसके समान या उससे अधिक आकर्षक लगती है? किन्तु फिर 'प्रकृति से माया' तोड़ने की क्या सार्थकता है? वस्तुतः स्वयं प्रकृति का उल्लेख हो जाने पर द्रुम-छाया आदि का उल्लेख अनावश्यक हो जाता है, क्योंकि वे प्रकृति के ही अंग हैं। दूसरी पंक्ति में 'भी' का प्रयोग और भी निरर्थक है। चित्र-गत साम्य या संगति की दृष्टि से इस कविता का तीसरा पद्य ठीक है,

कोयल का वह कोमल बोल,
मधुकर की वीणा अनमोल,

कह तब तेरे ही प्रिय स्वर से कैसे भर लूँ
सजनि, श्रवन !
भूल अभी से इस जग को—

कोयल का बोल सुन्दर है, मधुकर की वीणा अनमोल है, फिर बाला के स्वर में ही क्या विशेषता है कि कवि उसे सुनता रहे। पाठक देख सकते हैं कि प्रथम पद्य की इस प्रकार की व्याख्या संभव नहीं है, यही 'निराला' जी की शिकायत का मूल कारण है।[१] आशा है

१—शायद निम्न कविता में, जिसकी भावभूमि पन्त की उक्त कविता से मिलती-जुलती है, इस प्रकार के असामंजस्य की शिकायत न हो:—

तुम्हारे अधरों की समता
बनाती प्रिय पुष्पों के दल,
तुम्हारी स्मिति की व्याख्या-सी
उषा की आभा स्वर्णोज्ज्वल !
अपांगों का शुचि शुभ्र विलास
बनाता ज्योत्स्ना को सुन्दर,
प्रेम की निर्मलता से प्रिये
सरित का जल लगता शुचितर !
तुम्हारी केश-स्मृति काली
निशातम को करती प्यारा,
कटाक्षों की हर चञ्चल याद
चमकने लगती बन तारा !
सोचता था मैं केवल प्रिये
एक तुमको ही करना प्यार,
हो गया पर वे धोखे में आज
अखिल जग का मुझ पर अधिकार !
[प्रणय-गीत]

पाठक कृपया नोट करें कि कविताओं की यह तुलना केवल सामञ्जस्य को लेकर की गई है। ऐसा ही आगे की तुलनाओं में भी समझें।

इस लम्बी-चौड़ी विवेचना द्वारा पाठकों के हृदय पर रागात्मक (तथा विचारगत) सामञ्जस्य का आशय अंकित हो गया होगा।

छायावादी काव्य में असामंजस्य दोष की, जो कविता के रचना सौष्ठव एवं स्पष्टता, दोनों पर समान रूप में आघात करता है, जड़ें कितने व्यापक तथा गहरे रूप में फैली हैं, यह सोचते हुए भय होता है। इसे हिन्दी का दुर्भाग्य ही समझना चाहिये कि उसके एतत् कालीन कवि, प्रतिभाशाली होते हुए भी, अपनी बहुसंख्यक रचनाओं को सुबोध और सरस नहीं बना पाते। इसका मुख्य कारण, हमारी समझ में, अनुभूति के साथ कल्पना का अनुचित हस्तक्षेप है। 'पल्लव' में अनुभूति का रंग गहरा है, इसलिए कहीं कहीं विचारगत असामंजस्य रस-भंग नहीं करता; फिर भी अनेक कविताओं की रचना शिथिल है जिसके कारण रसानुभूति परिपूर्ण नहीं हो पाती, यद्यपि इन कविताओं में सुन्दर पंक्तियों एवं पद्यों की प्रचुरता है। 'अनंग' कविता के निम्न पद्यों में रागात्मक सामञ्जस्य एकदम नष्ट हो गया है।

बजा दीर्घ साँसों की भेरी,
सजा सटे-कुच कलशाकार,
पलक-पाँवड़े बिछा, खड़े कर
रोओं में पुलकित-प्रतिहार;
बाल-युवतियाँ तान कान तक
चल-चितवन के बन्दनवार
देव! तुम्हारा स्वागत करतीं
खोल सतत-उत्सुक-दृग-द्वार।

यहाँ दूसरे पद्य के चित्र जितने सुन्दर है, प्रथम के उतने ही असुन्दर या भद्दे; 'दीर्घ साँसों की भेरी' तथा 'सटे-कुच कलशाकार' हमारी सौन्दर्यवृत्ति पर कर्कश आघात करते हैं, और पद्यों के मुख्य भाव को विकृत कर देते हैं। 'बालापन' कविता की भी गठन शिथिल और सौन्दर्य-दृष्टि अपरिपक्व है,

वह ज्योत्स्ना से हर्षित मेरा
कलित कल्पनामय संसार;
तारों के विस्मय से विकसित

विपुल भावनाओं का हार;
सरिता के चिकने-उपलों-सी
मेरी इच्छाएँ रंगीन,
वह अजानता की सुन्दरता,
वृद्ध-विश्व का रूप नवीन;

प्रथम पद्य का भाव-सौन्दर्य जितना कोमल एवं सरस है उतना दूसरे का नहीं, अन्तिम पंक्ति में 'वृद्ध' विशेषण का प्रयोग कोमल भावोन्मेष में रसभंग उपस्थित कर देता है।

महादेवी के काव्य में कल्पना का प्राधान्य है, और शायद इसीलिए रागात्मक सामञ्जस्य का विशेष अभाव है। किन्तु उनका सूक्ष्म गुम्फन पाठक को प्रायः समग्र कविता पर एक साथ दृष्टि डालने से रोकता है जिसके फल-स्वरूप वे इस कमी को नहीं देख पाते। इस परिस्थिति का दूसरा फल यह है कि उनकी कविताएँ हमें कभी रससिक्त नहीं करतीं। पाठकों का मस्तिष्क चित्रण की बारीकी में इतना उलझ जाता है कि उनकी रागात्मिका वृत्ति को उन्मिषित होने का समय ही नहीं मिलता। 'नीहार' की एक कविता का प्रथम पद्य इस प्रकार है,

निश्वासों का नीड़ निशा का
बन जाता जब शयनागार;
लुट जाते अभिराम छिन्न
मुक्तावलियों के बन्दनवार,
तब बुझते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार,
आँसू से लिख लिख जाता है, 'कितना अस्थिर है संसार'!

इस पद्य में संसार को 'अस्थिर' कहा गया है; अगले पद्यों में क्रमशः उसे 'मादक' 'निष्ठुर' और 'पागल' वर्णित कराया गया है। इन विशेषणों के प्रयोग में कोई विचारगत क्रम नहीं है। वस्तुतः 'अस्थिर' विशेषण सबसे तीव्र या तीखा है और यदि वह सबसे अन्त में आता, तो अधिक उचित होता।

'नीरजा और 'सांध्यगीत' में महादेवी जी में एक दूसरी प्रवृत्ति दिखाई देती है। वहाँ उनकी कविताओं का आरंभ अतीव आकर्षक

पंक्तियों से होता है, किन्तु कविताओं के कलेवर में उन पंक्तियों का निर्वाह नहीं हो पाता। ऐसा लगता है कि कवयित्री के दिमाग में एक सुन्दर पंक्ति गूँजने लगती है और वे उस पंक्ति का उपयोग करने के लिए एक पूरी कविता लिख डालती हैं। किन्तु शेष कविता में अनुभूति उनका साथ देती नहीं दिखाई पड़ती। उनकी कुछ पंक्तियाँ देखिए:—

'दिया क्यो जीवन का वरदान?';'प्राणों के अन्तिम पाहुन'; 'तुम्हें बाँध पाती सपने में ?'; 'कौन तुम मेरे हृदय में ?'; 'बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ'; 'प्राण कि प्रिय-नाम रे कह !', 'मैं नीर भरी दुख की बदली !' इत्यादि। इनमें सम्भवतः तीसरी पंक्ति का ही कविता के कलेवर में उचित निर्वाह हो पाया है। पहली पंक्तिवाली कविता लीजिए,

दिया क्यों जीवन का वरदान ?
इसमें है स्मृतियों का कम्पन
सुप्त व्यथाओं का उन्मीलन
स्वप्न लोक की परियाँ इसमें
भूल गईं मुस्कान !

जीवन का वरदान क्यों दिया यह पहली पंक्ति उपालंभ-मूलक है, उलाहना-रूप है, अतः आगे कवि को बतलाना चाहिए कि जीवन में कितनी खराबियाँ हैं, जिसके कारण उसका वरदान वांछनीय नहीं है। पहली दो पंक्तियो को उपालंभ की पोषक माना जा सकता है, किन्तु अन्तिम पंक्ति—स्वप्न लोक की परियाँ इत्यादि—इस कोटि में नहीं आ सकती। 'तुमने जीवन का वरदान क्यों दिया, उसमें तो स्वप्न लोक की परियां मुस्कान भूल गई हैं' यह तर्क विचित्र-सा लगता है। यह कविता रश्मि की है।[1] 'नीरजा' की एक प्रसिद्ध कविता देखें,

---

१—क्या इस पंक्ति का दूसरा यह अर्थ है कि—'यह जीवन इतना खराब है कि यहाँ स्वप्न-लोक की परियां मुस्कराना भूल गई हैं'? उस दशा में परियों को स्वप्न-लोक की (अवास्तविक) बतलाना [मु]स्कान भूलने' की घटना को कल्पित अथच अमार्मिक बना देगा। [कल्पि]त प्राणियों के सुख-दुख की इतनी चिन्ता क्यों ?

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ
नींद थी मेरी अचल निस्पन्द कण-कण में
प्रथम जागृति थी जगत के प्रथम स्पन्दन में
प्रलय में मेरा पता पद-चिह्न जीवन में
शाप हूँ जो बन गया वरदान बन्धन में
कूल भी हूँ, कूलहीन प्रवाहिनी भी हूँ !

यहाँ प्रथम पंक्ति लिखने के बाद महादेवीजी जैसे बीन और रागिनी के सुन्दर चित्रों को एकदम भूल गई हैं, शेष पद्य में उनका कोई संकेत, कोई चिह्न नहीं है। इसी प्रकार अन्तिम पंक्ति का बीच की चार पंक्तियों से कोई लगाव नहीं मालूम पड़ता, उसके बदले यदि एक बाद की ऐसे ही स्थल की दूसरी पंक्ति रख दें,

नील घन भी हूं सुनहली दामिनी भी हूँ !

तो शायद अर्थ में कोई विपर्यय अथवा हानि-लाभ न होगा। आश्चर्य तो यह है कि हिन्दी के समझदार पाठक भी इन पंक्तियों को चाव से पढ़ते रहे हैं, जैसे उन्हें भाव या अर्थ से कोई सरोकार नहीं हो और उनके मनोविनोद के लिए चमत्कारी चित्र-संगठन तथा चुस्त तुकबन्दियाँ काफी हों ! कवि और पाठकों दोनों का यह रुचि-विवर्तन दयनीय है।

महादेवीजी एक बड़ी मार्मिक पंक्ति है,

प्राणपिक प्रिय-नाम रे कह !

मालूम होता है जैसे स्वयं मीरा, कुछ अधिक बारीक आवाज में, बोल रही है। किन्तु आगे की कविता पढ़ते ही जादू उतर जाता है, प्राण-पिक से प्रिय नाम कहने का आग्रह करना और उसकी सार्थकता या महत्ता का विवरण देना, भूल कर महादेवी जी उससे न जाने क्या-क्या कहने का अनुरोध करने लगती हैं,

मैं मिटी निस्सीम प्रिय में
वह गया बँध लघु हृदय में
अब विरह की रात को तू
चिर मिलन का प्रात रे कह !
दुख अतिथि का धो चरण तल

विश्व रसमय कर रहा जल
यह नहीं क्रन्दन हठीले
सजल पावस मास रे कह !

यहाँ तुकों में असाधारण शिथिलता है, पर वह साधारण कमी है। शिकायत की मुख्य बात यह है कि आगे की पंक्तियों में प्रापणिक के लिए प्रिय नाम कहना कोई जरूरी या महत्त्व की बात नहीं रह जाती; दूसरी चीजों को दूसरे ढंग से पुकारना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण हो जाता है। बल्कि इन आगे के सम्बोधनों की सार्थकता की तुलना में पहला सम्बोधन फीका पड़ जाता है, क्योंकि उसकी सार्थकता का निर्देश नहीं किया गया है।

उक्त गीत की तुलना पाठक "विनय-पत्रिका" के उन दर्जनों पदों से करें जिनमें तुलसी ने अनन्य भक्ति और विश्वास से नाम की महिमा का गान किया है। वहाँ ऐसी विसंगति या उलझन का प्रश्न ही नहीं उठ सकेगा—

(१) राम राम रमु, राम राम रटु, राम राम जपु जीहा
राम-नाम-नवनेह-मेह को, मन ! हठि होहि पपीहा।

× × × ×

रामनाम-गति, रामनाम-मति, रामनाम-अनुरागी
ह्वै गए, हैं, जो होहिंगे, तेइ त्रिभुवन गनियत बड़ भागी।

(२) राम जपु, राम जपु, राम जपु बावरे,
घोर भव-नीरनिधि नाम निज नाव रे

× × × ×

भलो जो है, पोच जो है, दाहिनो जो बाम रे
राम-नाम ही सों अन्त सब ही को काम रे

पाठक देखेंगे कि इन पदों में 'नाम' एक केन्द्रगत धारणा रहती है जिसकी सम्बद्धता में विविध चित्रों और भावनाओं का प्रसार किया जाता है। वस्तुतः स्वल्पकाय गीति ऐसी ही एक भावना के प्रकाशन का माध्यम होता है। किन्तु छायावादी गीतों में, विशेषतः महादेवी की रचनाओं में, इस प्रकार किसी केन्द्रीय भावना को ढूँढ़ निकालना असम्भव मालूम पड़ता है।

इतनी सुन्दर पंक्ति महादेवी जी की कविता में व्यर्थ हो गई, यह देख कर कष्ट होता है। 'सांध्यगीत' में एक ऐसी ही सुन्दर पंक्ति है,

मैं नीरभरी दुख की बदली !

पंक्ति में शायद विचारगत क्रम नहीं है, नीर को स्पष्ट रूप में दुख रूप नहीं कहा गया है, पर उसमें रागात्मक सामंजस्य पूर्ण है। पंक्ति किसी लोकगीत की मालूम पड़ती है जिसे साधारण शिक्षित लोग गा सकें। इस पंक्ति का भी आगे निर्वाह नहीं हो पाया है:—

स्पन्दन में चिर निस्पन्द बसा
क्रन्दन में आहत विश्व हँसा
नयनों में दीपक से जलते
पलकों में निर्झरिणी मचली !
मेरा पग-पग संगीत भरा
श्वासों में स्वप्न पराग झरा
नभ में नव रंग बुनते दुकूल
छाया में मलय बयार पली !
मैं क्षितिज भृकुटि पर घिर धूमिल
चिन्ता का भार बनी अविरल
रजकण पर जलकण हो बरसी
नवजीवन-अंकुर बन निकली !
पथ को न मलिन करता आना
पद-चिह्न न दे जाता जाना
सुधि मेरे आगम की जग में
सुख की सिहरन हो अन्त खिली !
विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली !

शेष कविता का प्रथम पंक्ति से रागात्मक ऐक्य नहीं दीखता। प्रथम पंक्ति में जैसी तरल करुणा है, वैसी कविता में अन्यत्र नहीं है। उलटे 'मेरा पग-पग संगीत भरा', 'नव जीवन-अंकुर बन निकली', 'सुख

की सिहरन हो अन्त खिली' आदि पंक्तियाँ करुण वातावरण को भंग करने वाली हैं। प्रथम पंक्ति के बाद आने वाला पद्य अनिवार्य नहीं मालूम पड़ता, यही सम्पूर्ण कविता का हाल है। वस्तुतः काव्य-प्रवाह में अनिवार्यता की प्रतीति तब होती है जब उसमें नितान्त स्वाभाविक गति से अनुभूति का अपना भाव-प्रवेग आगे बढ़ता जाता है।

'स्पन्दन में चिर निस्पन्द' में दार्शनिकता का पुट है, पर वह बहुत उच्च कोटि के भावावेश का बलिदान करके लाया गया है और उन्हीं को रुचिकर लगेगा जो अल्प परिचय के कारण दर्शन से शीघ्र ही आतंकित हो उठते हैं।[1]

१—शायद निम्न कविता में, जिसकी प्रथम तथा अन्तिम पंक्तियाँ महादेवी जी की हैं, पाठकों को सामंजस्य का अभाव न लगे :—

मैं नीरभरी दुख की बदली!
वेदना-पयोनिधि से उमड़ी
करुणा-समीर की गोद पली!
गहरे विषाद के काजल से
रे रँगी गई मेरी काया,
आँसू-निर्मित उर, जीवन पर
गति-परिवर्तन की घन छाया;
पीछे आया तम-शोक विपुल
मैं जहां जहां जिस ओर चली
मैं नीरभरी दुख की बदली!
नभ की सूनी गहराई में
सन् सन् करती पुरवाई में
मैं लक्ष्य-भ्रष्ट तिरती फिरती
आकाश-वेलि-सी व्यर्थ फली!
मैं नीर भरी दुख की बदली!
मेरी सतरंगी पीड़ा से
जग करता मनोविनोद कभी
सारे असुओं से हो जाता,
तत उसका क्रीडामोद कभी;

छायावादी युग के एकमात्र महाकाव्य 'कामायनी' में, कथात्मक सूत्र की उपस्थिति के कारण, सामंजस्य की विशेष आशा की जा सकती थी। पर दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं है। मनोवैज्ञानिक रूपक के निर्वाह के फेर में प्रसादजी न तो अपने पात्रों को सुस्पष्ट व्यक्तित्व ही दे सके हैं और न कथा-प्रवाह की ही रक्षा कर सके हैं। उदाहरण के लिये पहले प्रकरण में मनु द्वारा चिन्ता को सम्बोधित करके पूरे आठ पद्य कहलाये गए हैं, और एक दूसरे प्रकरण में श्रद्धा और लज्जा का संवाद कराया गया है। मनोवैज्ञानिक भावों का असली पात्रों के बीच इस प्रकार प्रवेश पाठकों को विचित्र उलझन में डाल देता है और पूरा काव्य अमूर्त, अस्पष्ट एवं दुरूह हो उठता है। पात्रों का वर्णन करते हुए प्रसाद जी यह प्रायः नहीं भूलते कि वे अमूर्त मनोभावों के सम्बन्ध में लिख रहे हैं; फलतः कथा की सरसता एकदम नष्ट हो जाती है और पाठक विमूढ़ भाव से 'बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल' जैसी पंक्तियों का दोहरा अर्थ लगाने की चेष्टा में एक भी हृदयंगम नहीं कर पाता। अध्यापक गैरोड ने रूपकात्मक काव्यों की ऐसी ही कठिनाइयों को लक्ष्य करके कहा है :–

All allegory bites—bites into the nobler vitals of poetry. Of timid minds brought up against facts, and too conscientions to ignore them altogether, allegory is, in all periods,

---

यह व्यथा एकरस पर सुख के
भ्रम से भी कभी गई न छली!
मैं नीरभरी दुख की बदली!
क्यों आई थी क्या खोज रही
उर लिए कौन दुख-बोझ रही
मत पूछो, लघु इतिहास यही
उमड़ी कल थी, मिट आज चली!
मैं नीरभरी दुख की बदली!

सामञ्जस्य की दृष्टि से "दीपशिखा" की—"मेघ-सी घिर झर चली मैं"—शीर्षक कविता सन्तोषप्रद है।

दूसरी पंक्ति कमजोर जँचती है, और इस पूरे पद्य की अपने पूर्ववर्ती तथा परवर्त्ती पद्यों से संगति नहीं बैठती—मनु की मुद्राओं के वर्णन में यह व्याघात उपस्थित कर देता है। अन्तिम पद्य में 'मर्म वेदना' 'कहानी' से मेल नहीं खाती—कहानी के साथ कल्पित होने का अनुषंग रहता है जबकि मर्मवेदना गंभीर वस्तु है। इसी प्रकार प्रकृति को 'हँसती-सी' कहना सार्थक नहीं लगता। यहां पाठक याद रक्खें कि कि कामायनी का प्रारंभिक अंश उसका उत्तम अंश है।

'चिन्ता' को संबोधित मनु के कुछ पद्य को देखिए,

(१) "ओ चिन्ता की पहली रेखा,
अरी विश्व वन की व्याली;
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
प्रथम कंप सी मतवाली!

(२) हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा!
हरी-भरी सी दौड़ धूप, ओ
जल माया की चल रेखा!

(३) इस ग्रह कक्षा की हलचल! री
तरल गरल की लघु लहरी;
जरा मरण जीवन की, और न
कुछ सुननेवाली, बहरी!

× × ×

(४) मनन करावेगी तू कितना?
उस निश्चिन्त जाति का जीव,
अमर मरेगा क्या? तू कितनी
गहरी डाल रही है नींव!

यहाँ प्रथम पद्य में चिन्ता की ज्वालामुखी के स्फोट-कंप से तुलना करके फिर उसे 'अभाव की चपल बालिका' तथा 'हरी-भरी सी दौड़-धूप' अथवा 'जल-माया की चल रेखा' कहना वातावरण की गंभीरता को कम कर देता है। इसी प्रकार तृतीय पद्य का रेखांकित अंश कमजोर ही नहीं, निरर्थक है, और प्रथम पंक्ति के सौन्दर्य को

सर्वथा च्युत कर देता है। अन्तिम पद्य की सारी रचना शिथिल है और रेखांकित अंश तो व्यर्थ ही है।

निर्वेद में घायल मनु श्रद्धा से कह रहे हैं,

तुमने हँस-हँस मुझे सिखाया विश्व खेल है खेल चलो
तुमने मिलकर मुझे बताया सबसे करते मेल चलो
यह भी अपने बिजली के से विभ्रम से संकेत किया
अपना मन है, जिसको चाहो तब इसको दे दान दिया।

× × × ×

कितना है उपकार तुम्हारा आश्रित मेरा प्रणय हुआ
कितना आभारी हूँ, इतना संवेदनमय हृदय हुआ
किन्तु अधम मैं समझ न पाया उस मंगल की माया को
और आज भी पकड़ रहा हूँ हर्ष शोक की छाया को
मेरा सब कुछ क्रोध मोह के उपादान से गठित हुआ
ऐसा ही अनुभव करता हूँ किरनों ने अब तक न छुआ।

प्रथम पद्य की दूसरी पंक्ति मनु के बाद के जीवन पर नहीं घटती, वे सबसे मेल करना कहाँ सीख पाए? श्रद्धा से अलग होकर वे घोर व्यक्तिवादी के रूप में दिखाई देते हैं। वस्तुतः यह पंक्ति तुक मिलाने के ही लिए लाई हुई जान पड़ती है। रेखांकित पंक्तियाँ बहुत कमजोर हैं और भावों की शिथिलता की द्योतक हैं, यह पाठक ध्यान से पढ़ कर सहज ही देख सकेंगे। कुल मिला कर ये पंक्तियाँ पाठक का प्रसंगानुरूप रागात्मक आलोड़न करने में सर्वथा असमर्थ रहती हैं।

'दर्शन' प्रकरण में श्रद्धा-कुमार माँ से पूछता है,

"माँ! क्यों तू है इतनी उदास
क्या मैं हूँ तेरे नहीं पास;
तू कई दिनों से यों चुप रह
क्या सोच रही है? कुछ तो कह;
यह कैसा तेरा दुःख दुसह,
जो बाहर भीतर देता दह;

लेती ढीली सी भरी सांस
जैसे होती जाती हताश।"

श्रद्धा का उत्तर सुनिए,

वह बोली, "नील गगन अपार,
जिसमें अवनत घन सजल भार;
आते जाते सुख, दुख, निशि, पल,
शिशु सा आता कर खेल अनिल;
फिर झलमल सुन्दर तारक दल,
नभ रजनी के जुगुनू अविरल;
यह विश्व अरे कितना उदार,
मेरा गृह रे उन्मुक्त द्वार।
यह लोचन गोचर सकल लोक,
संसृति के कल्पित हर्ष शोक;
भावोदधि से किरनों के मग;
स्वाती कन से बन भरते जग,
उत्थान पतन मय सतत सजग
झरने झरते आलिंगित नग;
उलझन की मीठी रोक टोक,
यह सब उसकी है नोंक झोंक।

इत्यादि

श्रद्धा की संपूर्ण वक्तृता पहेली-बुझौवल सी मालूम पड़ती है। पाठक उसे भले ही न समझे, पर वह यह अवश्य समझता है कि श्रद्धा पुत्र के प्रश्नों का उत्तर नहीं दे रही है। रेखांकित अंश श्रद्धा की उदासी नहीं, सन्तोष प्रकट करते हैं। आश्चर्य तो यह है कि इड़ा इस उत्तर को समझती प्रतीत होती है और श्रद्धा के चुप हो जाने पर पूछती है,

अम्बे, फिर क्यों इतना विराग
मुझ पर न हुई क्यों सानुराग ?

यहाँ 'फिर' शब्द की क्या सार्थकता है यह या तो इड़ा जानती होगी या प्रसाद जी;उसका एक ही अर्थ हो सकता है जो असंगत है—

यह कि श्रद्धा के कष्ट का कोई कारण नहीं है, कम से कम इड़ा की दृष्टि में। विचारगत असामंजस्य का एक दूसरा उदाहरण लीजिए,

"जीवन में सुख अधिक या कि दुख, मंदाकिनि कुछ बोलोगी?
नभ में नखत अधिक, सागर में या बुद्बुद हैं, गिन दोगी?
प्रतिबिम्बित हैं तारा तुम में, सिंधु मिलन को जाती हो,
या दोनों प्रतिबिम्ब एक के इस रहस्य को खोलोगी!

\+ \+ \+ \+

दग्ध श्वास से आज न निकले सजल कुहू में आज यहाँ!
कितना स्नेह जला कर जलता ऐसा है लघु दीप कहाँ?
बुझ न जाय वह साँझ-किरन सी दीप-शिखा—इस कुटिया की
शलभ समीप नहीं तो अच्छा, सुखी अकेले जले यहाँ!

× × × ×

विरल डालियों के निकुंज सब ले दुख के निश्वास रहे,
उस स्मृति का समीर चलता है, मिलन कथा फिर कौन कहे?
आज विश्व अभिमानी जैसे रूठ रहा अपराध बिना,
किन चरणों को धोयेंगे जो अश्रु पलक के पार बहे!

इन पद्यों में शायद किसी की भी चारो पंक्तियाँ परस्पर-संबद्ध नहीं हैं! पाठक स्वयं निर्णय करें कि प्रथम पद्य के विभिन्न प्रश्न किस विचारात्मक या भावनात्मक ऐक्य से अनुप्राणित हैं। दूसरे पद्य की प्रथम पंक्ति में क्यों प्रश्न किया गया है जबकि पहली में कोई प्रश्न नहीं है? उस प्रश्न और उसमें नियोजित 'लघुदीप' की क्या सार्थकता है? इसी प्रकार अन्तिम पद्य में दूसरी और चौथी पंक्तियाँ पूर्ववर्त्ती पंक्तियों से संबद्ध नहीं दीखतीं।

संपूर्ण कामायनी इसी प्रकार अस्पष्ट एवं असंबद्ध व्यञ्जनाओं से भरी है। उसके मार्मिक से मार्मिक स्थल अपनी अस्पष्टता के कारण रसोद्रेक करने में असमर्थ रहते हैं। आलोचकों का आतंक अथवा परीक्षा में फेल होने का भय ही पाठकों या विद्यार्थियों से यह कहला सकता है कि वे उक्त काव्य को समझते और पढ़ कर आनन्द पाते हैं। सामंजस्य हीन एवं अस्पष्ट रचना के पढ़ने से जो खीझ और

परेशानी होती है उसे रिचर्ड्स ने भले प्रकार व्यक्त किया है:—

......Everybody knows the diminution of energy, the bafflement, the sense of helplessness which an ill-written, crude, or muddled book, or a badly actcd play, will produce... ......

(Principles etc. पृ० २३५--३६)

४

वास्तविकता पर बलात्कार; "मूड" की कविता

आलोचना को कृति के साथ चलना चाहिए और स्वयं कलाकृति को अनुभूति के। जो कला वास्तविक अथवा मार्मिक अनुभूति से अनुप्राणित नहीं है वह अपनी सपूर्ण साज-सज्जा, संपूर्ण अलंकृति-वैभव के बावजूद, निरर्थक, निःसार अथच अग्राह्य है।

ऊपर कहा जा चुका है कि छायावादी काव्य में प्राकृतिक संकेतों की बहुलता है। अब हम उसके प्राकृतिक चित्रण की कुछ सूक्ष्मता से परीक्षा करेंगे। काव्य में प्रकृति का कई प्रकार उपयोग होता है :—

(१) प्रकृति के रूपों को ज्यों का त्यों वर्णित कर दिया जाता है। इस प्रकार के वर्णन को यथार्थवादी कह सकते हैं। उसमें कल्पना का हस्तक्षेप बहुत कम होता है यद्यपि वर्णित दृश्यों की विशिष्ट छवियों का चयन अनिवार्य रूप से रहता है। (२) प्राकृतिक पदार्थों में चैतन्य का आरोप करके उन्हें जीवित की भाँति वर्णित किया जाता है। (३) कवि चैतन्य का आरोप करके सन्तुष्ट नहीं होजाता अपितु प्राकृतिक व्यापारों पर अपने अथवा पात्र-विशेष के सुख-दुःख का आरोप भी कर डालता है। छायावादी काव्य में प्रकृति–वर्णन के प्रायः अन्तिम दो रूपों को अपनाया गया है।

प्रचलित हिन्दी आलोचना में प्रकृति के अन्तिम दो वर्णन-प्रकारों को सदोष नहीं समझा जाता, किन्तु अंग्रेज लेखक रस्किन ने एक रोचक प्रश्न उठाया है। क्या कला में सत्य और मिथ्या का भेद कोई महत्व नहीं रखता, क्या वहाँ मिथ्या किसी तरह ग्राह्य होजाता

है ? अन्ततः प्रकृति चेतन नहीं है और उसे चेतन कहना या वर्णित करना मिथ्या को प्रश्रय देना है। फिर काव्य में उसे कैसे ग्राह्य किया जा सकता है ?

स्वयं रस्किन का विचार है कि विश्व के श्रेष्ठतम कलाकार प्रकृति में मानवी भावों का आरोप नहीं करते—शेक्सपियर और दांते ऐसे कलाकार हैं; और वे लेखक जो ऐसा करते हैं, जैसे वर्डसवर्थ तथा शैली, द्वितीय श्रेणी में परिगणित होने योग्य हैं। बात यह है कि प्रथम श्रेणी के कलाकारों का मस्तिष्क या बुद्धि इतनी सशक्त होती है कि वह प्रबलतम आवेग से विकृत या 'अभिभूत नहीं होती; वे तीव्रतम उत्तेजना के क्षणों में भी बौद्धिक संतुलन नहीं खोते और चन्द्रमा को चन्द्रमा तथा फूल को फूल देखते-समझते रहते हैं; इसके विपरीत अपेक्षाकृत छोटे कलाकार आवेग-आवेश में बौद्धिक संतुलन खो देते हैं जिसके फलस्वरूप उन्हें प्रकृति विकृत होकर दीखने लगती है।

तो क्या द्वितीय कोटि के कवि अपने काव्य में मिथ्या की प्रतिष्ठा करते हैं ? नहीं, बात यह है कि वे प्रकृति के प्रति सच्चे होते हुए भी अपनी अनुभूति के प्रति ईमानदार होते है। प्रकृति में ऐसे कवियों द्वारा किया हुआ मानवभावों का आरोप क्षम्य है।

किन्तु एक तीसरी श्रेणी के कवि हो सकते हैं जिन्हें प्रकृति वस्तुतः मानवभावापन्न नहीं दीखती, पर जो जान बूझकर उसमें मानवी भावों का आरोप करते हैं ! ऐसे कवियों को रस्किन ने निन्द्य ठहराया है क्योंकि वे न प्रकृति के प्रति सच्चे रहते हैं, न स्वयं अपनी अनुभूति के प्रति। वह कहता है—

Now so long as we see that the feeling is true, we pardon, or are even pleased by, the confessed fallacy of sight which it induces : we are pleased for instance, with these lines of kingsley's, above quoted, not because they fallacioully describe foam, but because they faithfully describe sorrow. But the moment the mind of the speaker be-

comes cold, that very moment such expression becomes untrue.

And there is no greater baseness in literature than the habit of using these metaphorical expressions in cold blood.

अर्थात्—जब तक हम यह देखते हैं कि कवि की संवेदना सच्ची है, तब तक हम कवि के प्रकृति गत मिथ्यारोप को क्षमा करते रहते हैं; नहीं, नहीं, उससे प्रसन्न भी होते हैं जैसे किंग्सले की—They rowed her in across the rolling foam—The cruel, crawling foam—पँक्तियों से, इसलिए नहीं कि वे समुद्र-फेन का भ्रान्त वर्णन करती हैं बल्कि इसलिए कि उनमें शोक का सच्चा वर्णन है। किन्तु ज्यों ही वक्ता का हृदय आवेग-शून्य हो जाता है, त्योंही इस प्रकार की प्रत्येक व्यञ्जना मिथ्या हो जाती है, और साहित्य में, आवेगहीनता की दशा में, ऐसे रूपकों के प्रयोग की अपेक्षा कोई दूसरी नीचता नहीं है।

रस्किन कृत कलाकारों के प्रथम और द्वितीय श्रेणी में वर्गीकरण को हम भले ही न माने पर हमें स्वीकार करना होगा कि किसी भी कलाकार को जान-बूझ कर प्रकृति को विकृत बना देने का अधिकार नहीं है। काव्य साहित्य में अनुभूतिगत ईमानदारी मुख्य चीज है, और यदि कलाकार प्रकृति के वस्तुगत रूप के प्रति सच्चा नहीं रह सकता तो कम-से-कम उसे अपने आवेग के प्रति सच्चा रहना चाहिए। अन्यथा उसकी सृष्टि मिथ्या पर आधारित होगी और प्रभविष्णु न हो पाएगी।

इतने सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण के बाद हम छायावाद की ओर लौटेंगे। प्रायः यह सर्व-विदित है कि छायावादी कवि प्रकृति में चेतना तथा मानवी भावों का आरोप करते हैं, पर विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या वे ऐसा भावावेश के वशवर्ती होकर करते हैं? हमारा उत्तर नकारात्मक है। आवेगात्मक तीव्रता छायावादी कविता की उल्लेखनीय विशेषता नहीं है: उसमें रागतत्त्व का नहीं, कल्पना का प्राधान्य है। कवि पन्त शेली की भाँति भावावेश से प्रेरित होकर नहीं लिखते

और न महादेवी ही मीरा की भाँति विभोर होकर गाती हैं। यही अन्य छायावादियों के सम्बन्ध में सत्य है; काव्य-सृष्टि के क्षणों में उनकी चेतना आत्म-विस्मृत नहीं, पूर्णतया जागरूक रहती है। यह जागरूकता उनके अवेक्षण की सूक्ष्मता एवं अंकन की जटिलता से स्पष्ट प्रमाणित होती है।

ऐसी दशा में उक्त कवियों द्वारा घटित प्रकृति का मानवी करण अक्षम्य कोटि में आ जाता है तथा पाठकों की रागात्मक सहानुभूति जगाने में असमर्थ रहता है। पाठक कवि के भावों से तादात्म्य स्थापित कर सकें—उसके समान ही प्रकृति में मानवी भावनाओं की अभिव्यक्ति देख सकें, इसके लिये यह आवश्यक है कि उन्हें तीव्र भावावेश के धरातल पर ले जाया जाय। किन्तु यह छायावादी कवि नहीं कर पाता, कारण यह है कि वह स्वयं ही तीव्र भावावेश की अवस्था में नहीं होता। फलतः पाठक उसकी अनुभूति को विश्वासपूर्वक ग्रहण नहीं करता और उसकी रागात्मक प्रतिक्रिया संकुचित तथा रसोद्रेक अपूर्ण रहता है।

पूर्ण रसानुभूति के लिए चेतना के सम्मुख प्रस्तुत किए हुए वस्तु-संगठन की सत्यता में पाठक का विश्वास भले ही न रहे, पर अविश्वास भी नहीं होना चाहिए। अपेक्षित यह है कि पाठक को विशिष्ट वस्तु-संगठन की वास्तविकता का भ्रम रहे। जहाँ भ्रम नहीं रह पाता वहाँ रसानुभूति को क्षति पहुँचती है। इसीलिए 'चन्द्रकान्ता' के पात्रों के सुख दुःख से हम उतने प्रभावित नहीं होते जितने कि रामचरित मानस के। बात यह है कि 'रामचरित मानस' की ऐतिहासिकता में विश्वास न रखते हुए भी हम उसकी वनवास आदि घटनाओं को जीवन की समानता से सत्य मान लेते हैं। यही मनोभाव श्रेष्ठ नाटकों तथा उपन्यासों को पढ़ने के समय रहता है।

जहाँ वास्तविकता का अध्यास या भ्रम पूर्ण नहीं रहता और पाठक अर्धज्ञात भाव से केवल अविश्वास को स्थगित रखता है, वहाँ उसमें आवेगात्मक आलोड़न भी नहीं होता, जैसा कि मर्मस्पर्शी काव्य में होना चाहिए। वहाँ केवल हलका सा रागात्मक स्पन्दन, रोमोद्रेक की भ्रान्ति-सी, हो कर रह जाती है जिसे

आवेग (Emotion) की अपेक्षा "मूड" (आवेग के बाद बच रहने-वाली अथवा उसके पहले की रागोन्मुखी वृत्ति) कहना अधिक उपयुक्त है। अंग्रेजी आलोचक जिसे "सेण्टीमेण्टल" काव्य कहते हैं उसमें रागोद्रेक की शक्ति नहीं रहती—वह वर्ण्य विषय से हमारा सम्बन्ध स्थापित करने में असमर्थ रहता है—केवल "मूड" उत्पन्न करने भर की क्षमता रहती है निम्न लिखित अवतरणों की तुलनात्मक पर्यालोचना से यह भेद स्पष्ट हो जायगा—

(१) अभी तो मुकुट बंधा था माथ
हुए कल ही हलदी के हाथ;
खुले भी न थे लाज के बोल,
खिले भी चुम्बन-शून्य कपोल;
हाय! रुक गया यहीं संसार
बना सिंदूर अँगार!
वात-हत-लतिका वह सुकुमार
पड़ी है छिन्नाधार!

[पल्लव-परिवर्त्तन]

(२) रुधिर के हैं जगती के प्रात
चितानल के यह सायंकाल,
शून्य निःश्वासो के आकाश
आँसुओं के यह सिन्धु विशाल;
यहां सुख सरसों, शोक सुमेरु

इत्यादि [परिवर्त्तन]

(३) कहो कौन हो दमयन्ती-सी
तुम तरु के नीचे सोई?
हाय! तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि! निष्ठुर नल सा कोई!

× × ×

तुम पथ-श्रान्ता द्रुपद-सुता-सी
कौन छिपी हो अलि! अज्ञात
तुहिन अश्रुओं में निज गिननी

चौदह दुखद वर्ष दिन रात ?

[पल्लव-छाया]

पहले पद्य में सद्योविधवा का यथार्थानुगामी चित्र है, और वह हम में तीव्र प्रतिक्रिया जगाता है। दूसरे पद्य की प्रथम दो पंक्तियाँ भी, जो रक्तरंजित मानव इतिहास के उल्लेख के बाद आती हैं, बहुत प्रभविष्णु हैं, यद्यपि उनमें वास्तविकता पर मानव-भावना का रंग चढ़ाया गया है। (शेष पंक्तियाँ उतनी प्रभावशालिनी नहीं हो सकी हैं।) इन दोनों ही पद्यों को लिखते समय कवि गंभीर रागात्मक आलोड़न का अनुभव कर रहा था जिसे वे पाठक में संक्रान्त कर देते हैं। किन्तु तीसरे अवतरण के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता। पहले दो पद्यों की तुलना में वह नितान्त हलकी चीज है। पाठक कुतूहल के भाव से छाया की दमयन्ती, द्रुपद-सुता आदि से तुलना पढ़ता है; उसका किंचित् मनोरंजन भी होता है, पर उसमें कोई गंभीर रागात्मक प्रतिक्रिया नहीं जगती – वह वस्तुतः विचलित नहीं होता। उसमें 'छाया' के पीड़ित या कातर होने का विश्वास नहीं होता, यही नहीं; उसे इस पीड़ा में प्रच्छन्न अविश्वास का भाव रहता है, जो कविता के प्रभाव के लिए घातक है। वस्तुतः यहाँ पन्त की कल्पना ने वास्तविकता पर आवेश के वशवर्ती होकर नहीं, जानबूझ कर बलात्कार किया है। 'रुधिर के हैं जगती के प्रात, चितानल से यह सायंकाल' जैसी पंक्तियाँ जलती हुई अनुभूति में ही जन्म ले सकती हैं, इसके विपरीत तीसरे अवतरण की पंक्तियाँ सजग, शान्त कल्पना द्वारा सृष्ट की गई जान पड़ती हैं। जहाँ पहली पंक्तियाँ अनिवार्य आवेग का कार्य हैं, वहाँ दूसरी कृत्रिम, अवसर विशेष के लिए बुलाए या प्रोत्साहित किए हुए, "मूड" का परिणाम हैं।

तथ्य बात यह है कि कलाकार का काम जीवन या जगत में कृत्रिम सौन्दर्यसौन्दर्य का आरोप नहीं है;—वह तद्गत सार्थकता का द्रष्टा मात्र है। जिस प्रकार वैज्ञानिक का विषय उससे स्वतन्त्र अस्तित्व रखनेवाली वास्तविकताएँ हैं, उसी प्रकार कलाकार का विषय उसकी कल्पना से अलग प्रतीत होने वाली विश्व-जगत की मर्म-छवियाँ हैं। कलाकार जीवन के सौंदर्यसौन्दर्य का स्रष्टा नहीं है, ठीक जैसे वैज्ञा-

निक वस्तु-जगत का निर्माता नहीं है। अतः वास्तविक कलाकार जिसे सुन्दर कहता है, वह वस्तुतः, विश्व मानव की दृष्टि से, सम्पूर्ण मानवता के लिये, सुन्दर होता है। सम्भव है कि सौंदर्य और असौंदर्य अन्ततः, वस्तुगत गुण नहीं हों, हमारी दृष्टि के विकार हों, पर उस दशा में भी उनकी आत्मनिष्ठता मानव-सापेक्ष होगी, व्यक्ति-विशेष की सापेक्ष नहीं।

श्रेष्ठ-कलाकार की प्रतीति में व्यक्तिगत कुछ नहीं होता, उसकी प्रतीति खास तौर पर उसकी नहीं होती, इसीलिए वह सब की बन सकती है। कलाकार व्यक्तिगत राग-द्वेष एवं स्वार्थों से—कम-से-कम कला-सृष्टि के क्षणों में—एकदम ऊपर या तटस्थ होता है; अतएव उसकी दृष्टि में और वाणी में स्वयं मानवता देखती या सुनती है। यही कारण है कि महाकवि स्वयं हमारे राग-विरागों को प्रकट करते हुए प्रतीत होते हैं और हम उन्हें पढ़ते हुए पोप के शब्दों में कह उठते हैं,

What oft was thought but never so well expressed.

शुक्लजी ने ठीक ही लिखा है—"सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय को देख सके।" (साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद)। वस्तुतः कवि के लिए जो वास्तव में आवश्यक है वह "लोक-हृदय" का मनोवैज्ञानिक अध्ययन नहीं, अपने को तटस्थता के धरातल पर प्रतिष्ठित करना है।

आत्म-कथा अथवा आत्म-कथा-मूलक उपन्यास लिखते समय भी असली कलाकार तटस्थ होता है। वह अपने जीवन को उसी निस्संगता से देखता है जिस प्रकार शेष मानवता के जीवन को। इसी कारण वह उस जीवन के वस्तुतः मार्मिक अवसरों को पकड़ पाता है और उनमें पाठकों की अभिरुचि जगा देता है। जो लेखक व्यक्तिगत रुचियों से ऊपर नहीं उठ सकता और अपने जीवनवृत्त को तटस्थ भाव से नहीं देख सकता, वह आत्म-कथा लिखने योग्य नहीं है।

उद्धृत अवतरणों में से प्रथम में पन्त की रुचि सर्वथा मानवता की रुचि है, वह किसी भी अंश में निराली नहीं है। अतः उनकी अनुभूति का पूर्णतया 'साधारणीकरण' हो जाता है। दूसरे अवतरण

में भी उन्हें इतिहास के निस्संग द्रष्टा के रूप में मानव-जीवन के प्रभात तथा सायंकाल एक विशेष ढंग के प्रतीत होते हैं—इस प्रतीति को पाठक सहज ही अपना लेता है, वह सरलता से कवि के दृष्टि-बिन्दु पर पहुँच जाता है। किन्तु जब पन्त छाया को दमयन्ती और द्रुपद-सुता से तुलित करने लगते हैं तो ऐसी व्यक्तिगत भूमि में चले जाते हैं जहाँ पाठक अपनी तथ्य-दृष्टि अथवा विश्वास-भावना पर बलात्कार किए बिना नहीं पहुँच सकता। इस तीसरी कोटि के काव्य को हम 'सेण्टीमेण्टल' अथवा 'मूड'-काव्य कह सकते हैं।

वस्तुतः रस्किन कृत कवियों (अथवा काव्यों) के वर्गीकरण में सत्यता का काफी अंश है। अन्ततः वास्तविकता जितनी प्रभाव-शालिनी होती है उतनी कल्पना-सृष्टि नहीं। अज-विलाप के सबसे प्रभविष्णु पद्यों में, जो हमें याद रहते हैं, मात्र वास्तविकताओं का उल्लेख है,

> धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः
> गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे
> गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ
> करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किन्न मे हृतम्।

[अब मेरा धैर्य नष्ट हो गया, क्रीड़ा समाप्त हो गयी, गाना-बजाना रुक गया और ऋतु उत्सव-हीन हो गयी; अब आभरण-सज्जा की कोई आवश्यकता नहीं रह गयी और मेरी शय्या सूनी हो गयी। मेरी गृहिणी, मेरी सचिव, प्रिय मित्र, कला-विलास की प्रिय शिष्या—निष्करुण मृत्यु ने तुझे छीन कर मेरा क्या नहीं छीन लिया!]

इसी प्रकार 'सूर' की प्रसिद्ध पंक्तियाँ

> सोभित कर नव नवनीत लिए
> घुटरुनि चलत रेणु तन-मंडित मुख दधि लेप किए

अथवा

> जसोदा हरि पालने झुलावै
> हलरावै दुलराय मल्हावै जोइ-सोई कछु गावै

मार्मिक वास्तविकताओं का संकेत करने के कारण ही हमारे हृदय को स्पर्श करती हैं। नीव से नीव आवेग से निरन्तर कल्पना-

सृष्टि ऐसी पंक्तियों की समानता कठिनता से कर सकेगी।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने लक्षित किया है कि पन्त का प्रकृति चित्रण ('नौका-विहार' आदि दो एक कविताओं को छोड़कर) वस्तून्मुखी नहीं है।' यही कथन अन्य छायावादियों के सम्बन्ध में सत्य है। वस्तुतः छायावादी काव्य मुख्यतः कल्पना-प्रसूत है, और वह कल्पना, अधिकांश स्थलों में, आवेगमयी नहीं, "मूड" की अनुवर्तिनी है। हम एक और दिशा में इस छायावादी कल्पना को देखेंगे। प्राचीन काल से कवि लोग काव्य में उत्प्रेक्षा का विधान करते आए हैं। उत्प्रेक्षा द्वारा कवि प्रस्तुत वास्तविकता को भिन्न रूप कल्पित करता है, उसकी इतर वास्तविकता के रूप में व्याख्या करता है। उदाहरण के लिए ऊपर के एक उद्धरण में कालिदास ने कैलास पर्वत की हिमराशि को 'शिव का राशीभूत अट्टहास-जैसा' वर्णित किया है। इस सम्बन्ध में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक यह कि उत्प्रेक्षा का आधार एक वस्तुगत विशेषता, प्रकृति (आदि) का कोई वास्तविक गुण या स्पन्दन होता है; और दूसरी यह कि उसमें 'इव' या 'मानो' का प्रयोग किया जाता है, जो पाठक की विश्वास-भावना पर अनावश्यक बोझ नहीं पड़ने देता। छायावादी काव्य में इन दोनों विशेषताओं का तिरस्कार पाया जाता है। वहाँ कवि प्रस्तुत वास्तविकता की ही व्याख्या नहीं करता, वरन् एक नई वास्तविकता की कल्पना कर लेता है और फिर इस कल्पित वास्तविकता की उत्प्रेक्षात्मक व्याख्या करने लगता है। यही नहीं, वह इस व्याख्या में 'मानो' आदि का प्रयोग न करके अभेद-रूपक का आश्रय लेने

१—शायद इसीलिए श्री नगेन्द्र ने लिखा है कि—'स्पष्टतः छायावाद प्रकृति काव्य नहीं है। और इसका प्रमाण यह है कि छायावाद में प्रकृति का चित्रण नहीं है वरन् प्रकृति के स्पर्श से मन में जो छाया चित्र उठे उनका चित्रण है।' (विचार और अनुभूति, पृ० ५५) रेखांकित पद का यह संकेत है कि छायावादी कवि अर्ध-स्फुट मनोदशाओं को व्यक्त करने का अभ्यस्त है। हमारे शब्दों में उसकी रचना 'मूड'-काव्य है, उसमें रागात्मक आलोड़न भी छायामय [illegible] है, [illegible] नहीं होगा।

लगता है। फलतः उसके संकेत में दोहरी दुरूहता आ जाती है। एक उदाहरण लीजिए,

बालक के कंपित-अधरों पर
किस अतीत-स्मृति का मृदु हास
जग की इस अविरत निद्रा का
करता रहता नित उपहास ? [पल्लव—स्वप्न]

यहाँ पहले तो यह कल्पित किया गया है कि बालक के कम्पित अधरों पर अतीत-स्मृति का हास है, और फिर इस कल्पित वास्तविकता की रूपकात्मक (उत्प्रेक्षात्मक नहीं) व्याख्या की गई है—वह हास जग की अविरत निद्रा का उपहास करता रहता है। वाक्य का प्रश्नवाची रूप यह इशारा करता है कि पाठक इस (शिशु-हास के उपहास करने की) घटना से सुपरिचित हैं, और कवि इस सुपरिचित घटना का कारण पूछ रहा है। पाठक देखें यहाँ वास्तविकता पर कितनी डिग्री तक अत्याचार किया गया है, एवं उनकी विश्वास-भावना पर कितना बोझ डाल दिया गया है। पद्य के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में वर्णित घटनाएँ तो कल्पित हैं ही, साथ ही यह भी समझ में नहीं आता कि स्वयं भी सोता हुआ बालक जग की निद्रा का (जिसे जबर्दस्ती अविरत बना दिया गया है) क्यों उपहास करता है। इस पद्य में वास्तविकता पर दोहरा बलात्कार किया गया है और वह भी बिना किसी तीव्र आवेग के, रस्किन की पदावली में, "cold blood" में।

हम फिर कहते हैं कि कोई भी कलाकृति वास्तविकता से जितनी दूर होती जाती है उतनी ही प्रभाव शून्य रहती जाती है। कल्पना तभी सफल होती है जब वह वास्तविकता में कम-से-कम विपर्यय उत्पन्न करती है। क्लिष्ट कल्पना, अन्ततोगत्वा, अनुभूति के अभाव या क्षीणता की द्योतक है और बिना वास्तविक अनुभूति के साहित्य लिखने बैठना विडम्बना है। पन्त के 'मूड' काव्य का और उदाहरण लीजिए, "स्याही का बूँद"—

अर्ध निद्रित सा, विस्मृत सा

न जागृत-सा, न विमूर्च्छित-सा
अर्ध जीवित-सा, औ' मृत सा
न हर्षित सा, न विमर्षित-सा
गिरा का है क्या यह परिहास ?
एक टक पागल सा यह आज
अपरिचित सा, वाचक-सा कौन
× × ×
योग का-सा यह नीरव तार
ब्रह्म माया का-सा संसार
सिंधु-सा घट में, यह उपहार
कल्पना ने क्या दिया अपार
कली में छिपा वसन्त-विकास !

असंख्य सुख-दुःखों से भरे, निरन्तर विक्षुब्ध, मानव-जीवन में जिसे कविता के 'विषय' नहीं मिलते वही इस प्रकार बैठकर 'स्याही के बूँद' पर कल्पनाओं का प्रथन करेगा। भला योग क्या कोई वीणा है जिसका 'बूँद' तार है ? और यह ब्रह्म-माया का संसार क्या है ? क्या यह पाठकों पर दार्शनिकता का रोब गाँठने का प्रयत्न है ? सिंधु-सा घट में—यहाँ सिन्धु क्या है और घट से किस ओर संकेत है ? "कली में छिपा वसन्त-विकास' क्या स्याही का बूँद है ? और यदि 'बूँद' यह सब चीजें हैं तो घोड़ा, गाड़ी, योरप का महायुद्ध आदि क्यों नहीं है ? कल्पना की यह अराजकता, उसका 'फैन्सी' (Fancy) के ऊबड़ धरातल पर इस प्रकार अधःपतन, सचमुच दयनीय है। 'गुंजन' के 'विज्ञापन' में पन्त ने इसी कविता से उदाहरण दिया है।

तत्त्व हो सकते हैं जो स्वतः, मानव-जीवन से सम्बन्धित होने के कारण, मानव-हृदय को उल्लसित या आलोड़ित करने की क्षमता रखते हैं। प्रकृति क्यों हमें आकर्षित करती है, इसका कारण हम भले ही न बता सकें, पर इस में सन्देह नहीं कि उसका हमारे जैवी संगठन (Biological make-up.) से निगूढ़ सम्बन्ध है।

छायावादी कवियों में अनुभूति की तीव्रता और अभिव्यक्ति की मांसलता में कुल मिला कर पन्त और निराला का स्थान सर्वप्रथम है। इन दोनों कवियों में निराला के अपेक्षाकृत कम लोकप्रिय होने का कारण उनकी दुरूहता या अस्पष्टता है। शेष कवियों में 'मूड' काव्य की प्रधानता है।

'कामायनी' के सम्बन्ध में कुछ आलोचकों ने कहा है कि, वह 'रामचरितमानस' के बाद हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कथात्मक काव्य है। एक दृष्टि से यह कथन ठीक है—'रामचरित मानस' के बाद हिन्दी में श्रेष्ठ महाकाव्य लिखा ही नहीं गया। पर यदि आलोचकों का मतलब यह संकेत करना है कि 'कामायनी' साहित्यिक श्रेष्ठता में 'मानस' के समकक्ष है, अथवा उससे कुछ ही कम है, तो वे महान भ्रम में हैं। मेरा विचार है कि जहाँ 'मानस' का स्थान विश्व के श्रेष्ठतम महाकाव्यों—वाल्मीकि, व्यास, होमर और दान्ते की कृतियों—के साथ है वहाँ 'कामायनी' छायावादी काव्य की भी श्रेष्ठतम विभूति नहीं है, और उसकी 'मानस' से तुलना करना तुलसीदास का अपमान करना है। यहाँ हम पाठकों से अनुरोध करेंगे कि वे, अपनी आलोचना-वृत्ति की शुद्धि के लिए पहले 'मानस' के अयोध्याकांड अथवा शुक्लजी के 'तुलसी की भावुकता' शीर्षक निबन्ध को पढ़ लें और फिर 'कामायनी' के अध्ययन में प्रवृत्त हों। वस्तुतः यदि 'कामायनी' को शुक्लजी की प्रसिद्ध कसौटी—यह कि श्रेष्ठ प्रबन्धकार में आख्यान के मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचानने की, और उनका उपयुक्त निर्वाह करने की, क्षमता होनी चाहिये—पर कसा जाय तो उसका कहीं ठिकाना न होगा। वाजपेयी जी ने एक स्थान में तुलसी की निम्न पंक्तियाँ उद्धृत की

हैं—(प्रसंग लक्ष्मण का शक्ति से मूर्च्छित होना और हनुमान का संजीवनी बूटी लेने जाना है)—

अर्ध राति गई कपि नहिं आवा, राम उठाइ अनुज उर लावा
सकेउ न दुखित देखि मोहि काऊ, बन्धु सदा तव मृदुल सुभाऊ
मम हित लागि तजे पितु माता, सहेउ बिपिन हिम आतप वाता
सो अनुराग कहाँ अब भाई, उठहु विलोकि मोर विकलाई
जो जनत्यों बन बन्धु बिछोहू, पिता वचन नहीं मनत्यों ओहू
सुत बित नारि भवन परिवारा, होहिं जाहिं जग बारहिं बारा
अस बिचार जिय जागहु ताता, मिलहि न जगत सहोदर भ्राता
इत्यादि

पाठक इन पंक्तियों को पढ़ें और अयोध्याकांड के दर्जनों मार्मिक प्रसंगों को पढ़ें, और फिर हृदय का दीपक लेकर 'कामायनी' में ढूँढने की कोशिश करें कि कहीं एक भी ऐसा प्रसंग मिलता है। हमें तो उक्त काव्य में हृदय को मथने की शक्ति रखनेवाला एक भी स्थल नहीं मिला। वस्तुतः इस प्रकार की स्वभाविक काव्य-रचना छायावादी प्रकृति के विरुद्ध है। छायावादी कवि प्रायः अनुभूति के मर्मस्थल में नहीं घुस पाते, वे कल्पना द्वारा उसकी सतह को छूने और वर्णन करते रहते हैं।

क्या इस प्रकार की रचना इस युग में सम्भव नहीं है, क्या युग-रुचि कल्पना-प्रसूत काव्य को, जिस में सूक्ष्म अवेतनों का प्रयत्न-पूर्वक गुंफन किया गया हो, पसन्द करती है? हमारा विश्वास है कि पिछली तीन शताब्दियों में भारतीय मनोवृत्ति, अथवा मानवता का हृदय, इतना परिवर्तित नहीं हो गया है। आज भी मर्मस्थल को छूने वाला आनन्द-पूर्ण काव्य पसन्द किया जाता है इसका प्रमाण पन्त के 'परिवर्तन', रवीन्द्र की 'उर्वशी' तथा 'गीतांजलि' के दर्जनों गीतों की लोकप्रियता है।

न रह कर हलकी-हलकी बिखर गयी है' (विचार और अनुभूति)। वस्तुतः अनुभूति या आवेग का प्रयत्न-पूर्वक वितरण सम्भव नहीं है—लिखते समय कवि कृपण की भाँति जान बूझ कर आवेग का मितव्यय नहीं करता। वस्तु-स्थिति यह है कि कवयित्री महादेवी तीव्र आवेग का अनुभव कम करती हैं—वे प्रायः हलके 'मूड' में बैठ कर लिखती हैं। इसीलिए पाठक को कभी कभी संदेह होता है कि उनकी विरह-वेदना कृत्रिम तो नहीं है।[1]

'मूड' की उपस्थिति में प्रकृति को विकृत करके देखने को हमने 'वास्तविकता पर बलात्कार' कहा है। महादेवी के काव्य की यह सार्वत्रिक विशेषता है। जब महादेवी जी कहती हैं कि—

> रजत करों की मृदुल तूलिका से ले तुहिन बिन्दु सुकुमार
>
> कलियों पर जब आँक रहा था करुण कथा अपनी संसार

अथवा,

> खोजते हो खोया उन्माद मन्द मलयानिल के उच्छ्वास
>
> माँगती हो आँसू के बिन्दु मूक फूलों की सोती प्यास

अथवा,

> जिस दिन नीरव तारों से बोलीं किरणों की अलकें
>
> 'सो जाओ अलसाई हैं सुकुमार तुम्हारी पलकें'

अथवा,

> जब अपनी निश्वासों से तारे पिघलाती रातें

तब कुछ देर को हमारा किंचित् मनोरञ्जन न होता हो, ऐसा नहीं है, हमारी शिकायत यह है कि यह पंक्तियाँ हृदय को गम्भीर आवेग-अनुभूति में मग्न नहीं करतीं और उस पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं डालतीं। वे मात्र 'मनोरंजन' करके रह जाती हैं। इसके कारण का निर्देश हम पहले कर चुके हैं— वे वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न

१—तु० की०—अज्ञेय, 'हम केवल रोमांटिक झलक की बात नहीं कहते, हमारा अभिप्राय यह है कि उसमें भी कहीं-कहीं वैसी ही अस्पष्ट अकारण व्यथा है जो स्वयं अन्त है, किसी अधिक गहरी या व्यापक क्रिया का संकेत नहीं'। [आधुनिक हिन्दी साहित्य,

—अभिनव भारती ग्रन्थ माला, पृ० ३]

करने में असमर्थ रहती है।

काव्य में कल्पना का स्थान

यहाँ प्रश्न उठता है कि काव्य-सृष्टि में कल्पना का स्थान क्या है? क्या कल्पना सर्वत्र वास्तविकता पर बलात्कार ही नहीं करती? यदि हाँ, तो छायावादियों के विरुद्ध ऊपर का अभियोग अर्थ-हीन है; यदि नहीं, तो हमें कल्पना का कोई दूसरा उपयोग बताना चाहिए।

यह देख कर आश्चर्य होता है कि कल्पना को काव्य के लिए अत्यावश्यक कहते हुए भी साहित्य-शास्त्रियों ने उस पर कितना कम विचार किया है। कल्पना अनुभूति से भिन्न तत्त्व है या अभिन्न? यदि भिन्न है तो अनुभूति से उसका क्या संबन्ध है? और यदि अभिन्न है तो अनुभव-मूलक एवं कल्पना-प्रसूत काव्यों में भेद नहीं करना चाहिये। अन्ततः काव्य का लक्ष्य अनुभूति को प्रकट करना है या कुछ और? यदि मान लिया जाय कि काव्य-साहित्य में विशिष्ट अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है तो प्रश्न उठेगा कि कल्पना का अनुभूति अथवा उसकी व्यंजना पर क्या प्रभाव पड़ता है।

प्रायः यह समझा जाता है (जो कुछ हद तक ठीक भी है) कि कल्पना का काम अलंकारों का विधान करना है। किन्तु स्वयं अलंकारों की उपयोगिता के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट एवं सर्वस्वीकृत मन्तव्य नहीं है। साधारणतया आधुनिक विचारक अलंकारों के आडम्बर के विरुद्ध हैं। शुक्लजी के अनुसार 'भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में सहायक होनेवाली युक्ति ही अलंकार है।' मतलब यह है कि काव्य में भाव मुख्य है और अलंकार उसके सहायक-रूप में ही ग्राह्य हो सकते हैं। इसका अर्थ यह कि कल्पना को अनुभूति की सहायक, उसकी अभिव्यक्ति का साधन होना चाहिए। कल्पना और अनुभूति का यह द्वैत प्रायः सर्वमान्य-सा सिद्धान्त है। 'मानस' के उल्लिखित पद्यों की अवतरणिका में वाजपेयीजी ने लिखा है—'कविता जिस स्तर पर पहुँच कर अलंकार-विहीन हो जाती है वहाँ वह वेगवती नदी की भाँति हाहाकार करती हुई हृदय को प्लावित कर देती है। उस समय

उसके प्रवाह में अलंकार,ध्वनि,वक्रोक्ति आदि आदि न जाने कहाँ बह जाते हैं और सारे सम्प्रदाय न जाने कैसे मटियामेट हो जाते हैं।'[1] यहाँ भी अलंकारों को अनुभूति से बाह्य समझा गया है। वाजपेयी जी के अनुसार 'उत्कृष्ट कविता में अलंकार वही काम करता है जो दूध में पानी।' तो क्या अलंकारों का विधान करनेवाली कल्पना काव्य-सृष्टि के लिए अनावश्यक है? अथवा उसका अलंकार-विधान के अतिरिक्त कुछ और उपयोग है?

इन गुत्थियों को सुलझाने के लिए हमें संक्षेप में कल्पना के मनोवैज्ञानिक स्वरूप पर दृष्टि डालनी होगी, और फिर देखना होगा कि वह किस प्रकार काव्य-सृष्टि में व्यापृत होती है। मानस-शास्त्री प्रायः स्मृति और कल्पना का एक साथ वर्णन करते हैं। दोनों में समानता है, और भेद भी। स्मृति और कल्पना दोनों में अतीत अनुभवों का की आवृत्ति होती है। भेद यही है कि जहाँ स्मृति मे (१) यह चेतना रहती है कि स्मृत अनुभव पहले कभी ज्ञान का विषय हुए थे; और (२) अनुभवों का प्रायः वही क्रम या संगठन होता है जो उनके प्रथम ग्रहण के समय था, वहाँ कल्पनागत आवृत्ति में 'पूर्वानुभव' की चेतना नहीं होती तथा अनुभूत तत्त्वों का क्रम या संगठन भी बदल जाता है। संक्षेप में, कल्पना का काम अनुभूत तत्त्वों को नए ढंग से संगठित करके नई समष्टियों (wholes) में ढालना है। आपने एक आदमी को अत्याचार करते देखा और दूसरे के घर में आग लगते; अब आप कहानी लिखने के लिए कल्पना कर सकते हैं कि 'एक अत्याचारी का घर जल गया और उसकी सम्पत्ति नष्ट हो गयी।'

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि कल्पना कोई अनुभव-निरपेक्ष व्यापार नहीं है। वास्तव में किसी व्यक्ति का अनुभव जितना ही

---

१ वाजपेयी जी के ये उद्गार उनकी उच्च कोटि की रसग्राहिता के निदर्शक हैं। आश्चर्य यह है कि वे फिर भी छायावाद से इतना सरस समझौता कर सके थे। संभवतः इसका अज्ञात (uncon-scions) कारण यह था कि छायावाद के विरोधी उसकी तुलना में सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़े हुए द्विवेदी-युगीन काव्य की प्रशस्ति और छायावाद की भावनात्मक आधुनिकता की उपेक्षा कर रहे थे।

अनुसार इस व्याख्या या एकीकरण का सर्वोच्च रूप दुःखान्त नाटक है जिसमें प्रेम-घृणा, आकर्षण-विकर्षण, क्रोध-दया, आदि जीवन के सारे विरोधी तत्त्व एकत्र समावेशित हो जाते है ।[१]

कल्पना जहाँ उपर्युक्त प्रकृत पथ में प्रवाहित होती है—अनुभूत तत्वों का मानव-प्रकृति के नियमानुकूल ग्रथन करती है—वहाँ वह प्रगल्भ होकर नहीं दीखती, वहाँ वह अनुभूति से अलग भी प्रतीत नहीं होती। वहाँ वह एकीकरण या सम्बन्ध-सूत्र के रूप में, समग्र अनुभूति में, अन्तर्व्याप्त हो जाती है। कालिदास और तुलसी के उल्लिखित अवतरणों में ऐसी ही कल्पनाओं का आश्रय लिया गया है—प्रसंग से सम्बद्ध मार्मिक छवियों को बड़ी स्वाभाविकता से संगठित किया गया है। इसी तरह जब तुलसीदास कैकेयी के लिए,

अस कह कुटिल भई उठ ठाढ़ी, मानहु रोष-तरंगिनि बाढ़ी

अथवा दशरथ के लिये 'तनु धर सोच लागु जन सोचन' आदि व्यंजनाओं का प्रयोग करते हैं तब वे इन उपमाओं से हमारे हृदय के गूढ़तम स्तरों को झंकृत कर देते हैं; उनकी उपमाएँ यथार्थ की भाँति ही हमारी अन्तःप्रकृति को स्पर्श करती हैं। बात यह है कि तुलसी की यह उपमाएँ प्रयास-लब्ध नहीं हैं, वे अनजाने ही उनके उपचेतन से, अनुभूति-आवेग के साथ, निकल पड़ी हैं।

इस प्रकार की कल्पना को यदि हम यथार्थ कल्पना (Realistic Imagination) कहें, वह कल्पना जो यथार्थ लगनेवाले

चित्र उपस्थित करती है, तो दूसरे प्रकार की कल्पना को जो केवल चमत्कार या 'अलंकारों का झुनझुना' प्रस्तुत करती है, कोई दूसरा नाम देना होगा—उसे हम आदर के लिए निपुण कल्पना कहेंगे। यह दूसरी कोटि की कल्पना जब चमत्कार-विधान में न्यूनाधिक असफल, या कम सफल, रहे तो उसे क्लिष्ट कल्पना कहा जा सकता है। एक चौथी कोटि की कल्पना जो यथार्थ से कृत्रिम लगाव भी नहीं रख पाती, कपोल-कल्पना है, पर उसका उल्लेख, साहित्य-शास्त्र के लिए, आवश्यक नहीं है।

महाकवियों की वाणी में सबसे अधिक उपयोग यथार्थ कल्पना का होता है, इसलिए वह हमारे मर्मस्थल पर सीधे प्रभाव डालती है। निपुण कल्पना उनमें मिलती है, पर कम; इसके विपरीत द्वितीय कोटि के कलाकारों में यथार्थ और निपुण कल्पना का स्वच्छन्द मिश्रण मिलता है। निपुण कल्पना की प्रधानता साहित्यकार को तीसरी श्रेणी का लेखक बना देती है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि कालिदास में ऐसे पद्य जो अपने चमत्कार के लिए प्रसंग से अलग करके अर्ध-रसिकों की मण्डली में सुनाए जा सकें, बहुत कम हैं, शायद नहीं हैं।[1] इसके विपरीत माघ में ऐसे पद्य बहुत मिलेंगे—

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकाशमासत
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसंभवा मुदः।
परेतभर्तुर्महिषोऽमुना धनुर्विधातुमुत्खातविषाणमण्डलः
हृतेऽपि भारे महतस्त्रपाभरादुवाह दुःखेन भृशानतं शिरः

भारवि की अपेक्षा भी माघ अधिक कृत्रिम है, यह दोनों के क्रम से महर्षि व्यास (तृतीय सर्ग में) और नारद के वर्णनों की तुलना से देखा जा सकता है। भारवि का वर्णन एक समन्वित प्रभाव उत्पन्न करता है जब कि माघ के पद्य अलग-अलग चमत्कृत करके रह जाते

---

१ 'संस्कृत-कवियों की अनोखी सूझ' नामक पुस्तिका में, जहाँ तक मुझे स्मरण है, कालिदास का एक भी पद्य नहीं है। वस्तुतः दाद माँगनेवाली विचित्र सूझ महाकवियों की कल्पना का स्वभाव नहीं है।

है। चमत्कारान्वेषी अर्ध-रसिकों को कालिदास के निम्न श्लोक कैसे अच्छे लग सकते हैं,

> काऽप्यभिख्या तयोरासीद् व्रजतोः शुद्धवेषयोः
> हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव
>
> × × ×
>
> इक्षुच्छायानिषादिन्यः तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्
> आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः।

माघ के पद्यों का चमत्कार सतह पर है, उसकी उपस्थिति सिद्ध की जा सकती है, पर कालिदास की पंक्तियों के निगूढ़ रस को केवल ग्रहण किया जा सकता है—रसिक बुद्धि उसे सिद्ध करने का दुःसाहस नहीं कर सकती। और उछलते हुए वंशस्थ वृत्तों की तुलना में कालिदास के सादे अनुष्टुप् वृत्तों में कितना अधिक स्निग्ध प्रवाह एवं संगीत है, यह भी सिद्ध कर सकने की बात नहीं है।

ऊपर हमने यह कहा है कि श्रेष्ठ काव्य में जीवन और जगत की मर्मछवियों का मार्मिक संगठन रहता है। इन दोनों ही कसौटियों पर छायावादी काव्य खरा नहीं उतरता। अन्ततः मार्मिक छवि वही है जो मनुष्य की अन्तः प्रकृति को स्पर्श करती है—छायावादी कवियों की दृष्टि ऐसी छवियों पर कम जाती है। उनकी अनुभूति प्रायः इतनी निराली रहती है कि सामान्य पाठक उनसे तादात्म्य का अनुभव नहीं कर पाते; और उनका सामंजस्य अथवा एकीकरण भी मार्मिक नहीं हो पाता। इसका कारण क्या है? हमारा विश्वास है

मार्मिक काव्य को जन्म देती है, स्वरूप क्या है और उसका कला-सृष्टि में क्या उपयोग है।

प्रेरणा का अर्थ

प्रेरणा शब्द अंग्रेजी 'इन्स्पिरेशन' का अपूर्ण पर्याय है। विशेषतः साहित्य-सृष्टि के प्रसंग में, इस शब्द का स्वच्छन्द प्रयोग किया गया है, यद्यपि उसका स्वरूप समझने-समझाने का प्रयत्न बहुत कम हुआ है। किन्तु प्रेरणा केवल साहित्य-सृष्टि तक सीमित घटना या व्यापार नहीं है, वह अन्यत्र भी घटित या उपलब्ध होती है। उदाहरण के लिए हम किसी श्रेष्ठ वक्तृता के सम्बन्ध में कहते हैं कि वह प्रेरित या 'इन्स्पायर्ड' थी; इसी प्रकार असाधारण रूप से मनोरम गायन के लिए भी उक्त विशेषण का प्रयोग होता है। विज्ञान के क्षेत्र में अत्यन्त सार्थक अटकल, अनुमान, अथवा कल्पना (guess) को इस विशेषण द्वारा वर्णित किया जाता है। यह प्रेरणा क्या वस्तु है? उसे पाने का कोई उपाय भी हैं, किंवा वह जन्मागत प्रतिभा या दैवी अनुग्रह पर निर्भर करती है?

वस्तुतः प्रतिभा (genius) और प्रेरणा में घनिष्ठ सम्बन्ध है। सेब को गिरते देख इस इस कल्पना का उदय कि पृथ्वी में गुरुत्वाकर्षण है, एक न्यूटन के मस्तिष्क में ही हो सकता था; इसी प्रकार महती कलाकृतियों की प्रेरणा प्रतिभा शाली महाकवियों में ही होती है। यहां हमें प्रेरणा की कुछ सर्वस्वीकृत विशेषताओं पर ध्यान देना चाहिये। प्रेरणा नामक व्यापार या घटना अकस्मात् एवं अप्रत्याशित रूप में घटित होती हैं; वह हमारी बुद्धि अथवा संकल्पशक्ति (will) द्वारा नियंत्रित नहीं होती। यदि ऐसा न हो तो प्रत्येक कवि किसी भी समय किसी भी विषय पर श्रेष्ठ कविता लिख सके, और प्रत्येक वैज्ञानिक जब चाहे एक नए नियम का अन्वेषण कर डाले। पर ऐसा नहीं होता; इसी प्रकार गायक और वक्ता भी सदैव अपनी कला का उच्चतम प्रदर्शन नहीं कर पाते। प्रेरणा की दूसरी विशेषता उसकी विवश या बाध्य करने की शक्ति है;

प्रेरणा शब्द के मूलार्थ में ही इस शक्ति के प्रति संकेत है। प्रकृत प्रसंग में प्रेरित होने का अर्थ विशिष्ट प्रकार की सृष्टि या अभिव्यक्ति के लिये बाध्य महसूस करना है। यह नहीं कि कवि अपनी प्रेरणा को विफल नहीं होने दे सकता—बाह्य परिस्थितियाँ उससे ऐसा करा सकती हैं—पर उस दशा में उसे एक विचित्र वेदना और संभवतः ग्लानि का अनुभव होगा, उसे लगेगा कि मानों वह किसी बलवती प्रवृत्ति एवं उदात्त कृतित्व से विमुख हो गया है। ऐसी परिस्थिति में ग्लानि की अनुभूति के लिये स्पष्ट ही बौद्धिक परिष्कार (Intellectual culture) अपेक्षित है।

वस्तुतः प्रेरणा एक विशेष ढंग की अनुभूति होती है—'इन्स्पिरेशन' शब्द इसे ज्यादा ठीक व्यक्त करता है—जो प्रेरित व्यक्ति को अपने सामान्य जीवन से कुछ ऊंची चीज प्रतीत होती है और जो अनुभूति के सामान्य नियम के अनुसार अभिव्यक्ति के लिये तड़पती है। पता नहीं वैज्ञानिकों तथा गणितशास्त्रियों को अनुभूति 'पवित्र' अथवा 'उदात्त' लगती है या नहीं, पर कलाकारों को अवश्य ही वह ऐसी प्रतीत होती है। उन्हें लगता है मानो वह अनुभूति या प्रतीति एक प्रकार का न्यास है जिसे व्यक्त करके मानवता को अर्पित कर देना उनका कर्तव्य है। शायद सत्य की वाहक होने के कारण वैज्ञानिकों को भी प्रेरित प्रतीति "उच्च" मालूम पड़ती होगी।

सार्थकता की व्याख्या या मंडन कर सकता है, पर उस दृष्टि की प्रभविष्णुता किसी हेतुवाद पर निर्भर नहीं है। और न हेतु-अन्वेषिणी बुद्धि उस दृष्टि को जन्म ही दे सकती है—वह उस दृष्टि का भ्रममात्र उत्पन्न कर सकती है। बात यह है कि प्रेरित प्रतीति प्रत्यक्ष रूप होती है, वह विशेष वास्तविकताओं एवं उनके सम्बन्धों के साक्षात्कार से गठित होती है; इसके विपरीत बुद्धि प्रायः सामान्य प्रत्ययों एवं प्रत्यय-सम्बन्धों के संसार में भ्रमण करती है। इसीलिये किसी वाद या हेतुवाद से नियंत्रित साहित्य में वास्तविकता के साक्षात्कार की उष्णता का अभाव रहता है।

प्रेरित प्रतीति बौद्धिक धरातल के ऊपर या नीचे निष्पन्न होती है। वह सचेत मन का नहीं, उपचेतन का व्यापार है। जीवन और जगत की मर्म-छवियों का ग्रहण एवं संगठन जब कलाकार के उपचेतन में घटित होता है, तभी वह पूर्णतया प्रभविष्णु हो पाता है। तो क्या कला के क्षेत्र में सचेत प्रयत्नों एवं साधना का कोई स्थान नहीं है? क्या मानवी प्रयत्नों से प्रेरणा-शक्ति की दिशा में कुछ भी लाभ नहीं हो सकता? क्या अध्ययन और मनन, महाकवियों का सान्निध्य, और महान् विचारकों का साहचर्य, कला-सृष्टि में बिलकुल भी सहायता नहीं देता? क्या महती प्रेरणाओं को बुलाने के लिये किसी प्रकार की तैयारी नहीं की जा सकती?

हमारा उत्तर है—नहीं। उपचेतन का कार्य होते हुए भी साहित्यिक प्रेरणा हमारे शेष जीवन से असम्बद्ध नहीं होती, उसका सचेत साधना से भी कोई विरोध नहीं है। वस्तुतः इस प्रकार की साधना द्वारा ही हमारा उपचेतन गठित, पुष्ट, एवं परिष्कृत होता है।[1] संभव है हमारे उपचेतन पर हमारे सुदूर पूर्वजों के राग-विरागों एवं साधना का भी प्रभाव पड़ता हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि वह मुख्यतः हमारी अपनी जीवनचर्या को प्रतिफलित करता है। इसी

१—जीवन या जगत के जिन तथ्यों का मनुष्य सचेत क्षणों में रुचिपूर्ण अनुचिन्तन करता है उन्हीं की गुप्त सार्थकता अथवा सम्बन्ध-सूत्र की प्रतीति उसे होती है। यही कारण है कि न्यूटन को 'गुरुत्वाकर्षण' का आभास हुआ और कालिदास को 'मेघदूत' की विषय-वस्तु का।

लिये महान् कलाकार का उच्चाशय होना अनिवार्य है; महती कला-सृष्टि क्षुद्र-वृत्ति मनुष्यों द्वारा साध्य नहीं है। यहाँ हम यह नहीं कह रहे हैं कि श्रेष्ठ कलाकार किसी स्वीकृत अर्थ में मर्यादावादी होता है; हमारा कथन केवल यह है कि वह मानव प्रकृति के गूढ़तम नियमों के अनुसार—जिनमें से कुछ के संबन्ध में हम घोर अज्ञानी हो सकते हैं—स्वच्छ एवं सदाशय होता है।

उच्च विचारों और उच्च संकल्पों द्वारा जो अपने उपचेतन को परिष्कृत तथा शुद्ध करता रहा है, वही स्वस्थ एवं सप्राण साहित्य को जन्म दे सकता है—उसी की कृतियाँ मानवता को प्रकृत उच्चता की ओर अग्रसर कर सकती हैं। कृत्रिम मर्यादाओं के प्रचारक कलाकार केवल रूढ़ियों को पुष्ट करते हैं।

मानव-जीवन की परिस्थितियाँ बदलती हैं, उनके पारस्परिक संबन्धों में भी परिवर्तन होता है; अतः प्रत्येक युग में नये कलाकारों की आवश्यकता होती है जो इन परिस्थितियों के मार्मिक संबन्धों का उद्घाटन एवं मूल्यांकन कर सकें। इस दृष्टि से साहित्य परिवर्तनशील है। किन्तु क्योंकि मनुष्य की अन्तःप्रकृति, जो सब प्रकार के मूल्य-विधानों का स्रोत है, प्रायः वही रहती है और उसके विचलित या प्रभावित होने के नियम भी वही रहते हैं, इसलिए, अपनी मूल प्रेरणा में, साहित्य-सृष्टि सदा एकरस है। इसीलिए साहित्य कभी पुराना नहीं पड़ता और हम पिछले युगों की महाकृतियों का आज भी आनन्द ले सकते हैं। इसीलिए हम अपने अनुभूति-दाय को आनेवाली पीढ़ियों के लिए विरासत-रूप धरोहर के रूप में छोड़ सकते हैं। मानव हृदय को अजस्र रस-दान करनेवाली महान् कलाकारों की सजीव कृतियाँ ही साहित्य का चिरन्तन मानदण्ड हैं।

अवश्य ही मानवता की कुछ मर्म-प्रतीतियाँ चिरन्तन मानव संबन्धों से संबद्ध हैं। उनकी व्यंजना की युग-युग में आवृत्ति होती है, किन्तु प्रायः प्रत्येक युग की निराली नैतिक तथा दार्शनिक दृष्टि उस व्यंजना को एक निराला रूप दे देती है। इसी लिए सूर के बाल-साहित्य की फिर उसी रूप में आवृत्ति होने की संभावना नहीं है।

अब हम अपने प्रकृत विषय पर आते हैं। अधिकांश छायावादी काव्य प्रेरणा-जन्य श्रेणी के अन्तर्गत नहीं आता, वह अनिवार्य प्रतीतियों की अभिव्यक्ति नहीं है। उसके अनुभव-तत्त्वों का ग्रहण और संगठन प्रधानतया उपचेतन में घटित नहीं हुआ है; उसकी सृष्टि में निपुण कल्पना का अधिक हाथ रहा है। इसीलिए उसमें उच्च रागात्मक सामंजस्य का प्रायः अभाव है, और वह हमारी अन्तः-प्रकृति को कम स्पर्श करता है। छायावादी कवियों का कल्पनाऽतिरेक वस्तुतः उनके कल्पना-दौर्बल्य का सूचक है, उनमें यथार्थ कल्पना का अपर्याप्त विकास हुआ है। इसका एक कारण इन कवियों के अनुभव-क्षेत्र का संकुचित होना, जीवन में उनकी अपर्याप्त अभिरुचि, है। मानवता के ठोस जीवन से कतरा कर यह कवि सूक्ष्म अथच ललित कल्पनाओं की दुनिया में विचरण करते रहे, इसीलिए उनका काव्य लोक-हृदय का अनुरंजन करने में कम समर्थ रहा है।

वस्तुतः प्रतिभा और वाग्विदग्धता एक ही वस्तु नहीं, ठीक जैसे यथार्थ कल्पना और निपुण कल्पना अलग-अलग शक्तियाँ हैं। यथार्थ कल्पना प्रतिभा से उसी प्रकार सहचरित रहती है जैसे निपुण कल्पना विदग्धता से, एक का काम हमारी वृत्तियों को मार्मिक अनुभव-समष्टि में रसमग्न करना है, दूसरी का हमारे चित्त को चमत्कृत करना। एमर्सन के शब्दों में, "जहाँ प्रतिभा प्रकृत (मार्मिक) संबन्धों का उद्घाटन करती है वहाँ विदग्धबुद्धि कृत्रिम लगावों की स्थापना कर डालती है।"[1] विदग्धबुद्धि-प्रकल्पित अलंकार प्रायः कृत्रिम साम्य और वैधर्म्य की ओर संकेत करते हैं जिनका वस्तुओं

[1] Talent makes, counterfeit ties, Genius finds the real ones [Montaigne or The Skeptic.]

के अन्तस् से कम संबन्ध रहता है। छायावादी काव्य ऐसे अलंकारों से भरा पड़ा है। उसे लक्ष्य करके पन्त ने ठीक ही कहा है कि वह 'काव्य न रह कर केवल अलकृत संगीत बन गया था।'

कल्पना पर अतिरिक्त टिप्पणी

ऊपर की विवेचना में श्रेष्ठ कल्पना के उस रूप की प्रशंसा की गई है जो अनुभूत तत्त्वों का मार्मिक (यथार्थ लगनेवाला) संगठन उपस्थित करता है। इस प्रकार की कल्पना का महाकाव्यों और उपन्यासों में विशेष प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए टॉल्स्टाय के "युद्ध और शान्ति" का पहला अध्याय जहाँ बड़ी चतुरता से उपन्यास के प्रमुख पात्रों का परिचय दिया गया है, ऐसी कल्पना का श्रेष्ठ निदर्शन कहा जा सकता है—यों तो सम्पूर्ण उपन्यास ही लेखक की कल्पना-शक्ति का चमत्कार है। आश्चर्य की बात है कि कल्पना के इस उच्चतम रूप पर साहित्यिक विचारकों ने बहुत कम ध्यान दिया है।

किन्तु श्रेष्ठ कल्पना का एक दूसरा उपयोग भी है जिसका हमारी विवेचना में उचित उल्लेख नहीं हुआ है; यह उपयोग कल्पना की अलंकार विधायिनी शक्ति से संबद्ध है। अनुभूत तत्त्वों को सदैव सीधी अभिव्यक्ति का विषय बनाना सम्भव नहीं होता, अतः कवि या साहित्यकार उन्हें हृदयंगम कराने के लिए उपमा, रूपक, विरोध आदि का आश्रय लेता है। इस प्रकार का अलंकार-विधान स्वाभाविक एवं प्रशस्य है; उसका उद्देश्य कथंचित् पाठक को वास्तविकता से परिचित कराना होता है। कालिदास की उपमाएँ सर्वत्र यही करती हैं। इस प्रकार का अलंकार-विधान निपुण कल्पनाओं से, जो यथार्थ के परिचय का साधन न होकर स्वयं अपना साध्य होती हैं, भिन्न है; वह स्वतःस्फूर्त भी मालूम पड़ता है, जैसे तुलसी के कैकेयी-सम्बन्धी उद्धरण में; इनके विपरीत निपुण कल्पनाएँ प्रयत्नगठित (जागरूक बुद्धि का कार्य) मालूम पड़ती हैं। गीतिकाव्य में अमूर्त्त मनोदशाओं को, जिनका कवि ने उपभोग किया है, मूर्त्त या प्रकट करने के लिए ऐसी कल्पना विशेष अपेक्षित होती है।

रवीन्द्र की कल्पनाएँ प्रायः यथार्थ को हृदयंगम कराने के लिए आती हैं, पर साथ ही उनमें "निगुणत्व" की झलक भी रहती है। इसके विपरीत छायावादी कल्पना प्रायः इतनी अशक्त होती है कि वह पाठक को यथार्थ (अनुभूत तत्त्व) तक पहुँचने ही नहीं देती। जहाँ रवीन्द्र की रचनाओं में हमें कहीं-कहीं अनुभूतिगत निविड़ता का अभाव खलता है वहाँ छायावादी काव्य पढ़ते समय कभी-कभी सन्देह होता है कि— कवि को कुछ कहना भी है, उसने किसी बाह्य या आन्तरिक वास्तविकता का विशद अनुभव भी किया है। छायावादी काव्य प्रायः अनुभूति की चेतना न जगा कर उसका भ्रम उत्पन्न करके रह जाता है। (सितम्बर, १९४७)

५

लोक-संवेदना का तिरस्कार

शैलीगत न्यूनताएँ, शब्दों और अनुभूतियों का असंबद्ध जनघट या ग्रथन, बौद्धिक परेशानी उत्पन्न करता है, अतिकल्पना रागात्मिका वृत्ति को अप्रभावित छोड़ देती है। छायावादी काव्य की तीसरी प्रमुख दुर्बलता है— अनुभूति का ऐसा निरालापन जिसका साधारणीकरण या तो होता ही नहीं या कठिनता से होता है।

छायावादी कवि अजस्र नूतनता एवं विचित्रता की खोज में रहता है, लोक-सामान्य भावनाओं से उसे चिढ़-सी है। वह प्रायः ऐसे अनुभव और कल्पनाएँ प्रस्तुत करता है जिनका सामान्य संवेदना से मेल या सादृश्य नहीं है। छायावादी काव्य में हम अपनी परिचित भावनाएँ प्रायः नहीं पाते; वहाँ हम एक पँक्ति पढ़ कर दूसरी पंक्ति का, एक पद्य पढ़ कर दूसरे पद्य का कोई अनुमान नहीं कर सकते। वह हमें आपाततः नूतन और विचित्र मालूम पड़ता है, और हमें पद-पद पर काफी अवधान देते हुए बढ़ना पड़ता है। यह बात प्रसाद, निराला और महादेवी के काव्य को विशेष रूप से लागू है।

साहित्य-शास्त्र का एक प्रवाद है कि काव्य में मानवमात्र की संवेदना की अभिव्यक्ति होती है। 'जो हमने बहुत बार महसूस किया था पर कभी इतने अच्छे ढंग से व्यक्त नहीं हो सका था' इन प्रसिद्ध शब्दों में पोप ने कलाकार की लब्धि का वर्णन किया है।

महाकवियों की वाणी इस मान्यता के निदर्शन या प्रमाण उपस्थित करती है। एक परिचित संस्कृत श्लोक में 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का, नहीं-नहीं समूचे संस्कृत-साहित्य का, सुन्दरतम भाग उन चार पद्यों को घोषित किया गया है जिनमें शकुन्तला के आश्रम से विदा होने का वर्णन है। जन्म से पाली हुई लड़की की पति के घर को विदाई की घटना जितनी करुण है उतनी ही सामान्य भी है; वह प्रत्येक माता-पिता और पुत्री के जीवन में घटित होती है। महाकवि की वाणी ऐसी ही परिस्थितियों और भावनाओं का आश्रय लेकर अपने को अमर करती है।

छायावादी काव्य में इस प्रकार की घटनाओं और भावनाओं की खोज आकाश-कुसुम का अन्वेषण सिद्ध होगी। आप सूर की गोपियों का विरह समझ सकते हैं, नागमती और मीरा का विरह भी समझ सकते हैं; वहाँ पाठक-पाठिकाओं को अपने जैसे हृदय की सन्तप्त प्रतिध्वनि मिलती है; किन्तु महादेवी का विरह-काव्य वैसा नहीं है, उसे समझने के लिए बुद्धि और कल्पना का विशेष व्यायाम, विशेष जागरूकता अपेक्षित होती है। जब राम सीता के वियोग में विकल होकर वन्य पशु-पक्षियों तथा वृक्ष-लताओं से पूछते हैं,

तुम देखी सीता मृगनैनी ?

तब हमारा अन्तर गहरी समवेदना से झंकृत हो उठता है, किन्तु जब मनु के प्रयाण के बाद श्रद्धा मन्दाकिनी से पहेली-बुझौवल जैसे प्रश्न करती है तो हमारी चेतना रागात्मक आलोड़न महसूस न करके हलकी बौद्धिक हलचल और उलझन में फँस कर ही रह जाती है।

'कामायनी' 'दीपशिखा' आदि कृतियाँ पढ़ते समय पाठक को प्रत्येक पंक्ति के अर्थ पर ध्यान देते हुए चलना पड़ता है, क्योंकि वहाँ सर्वत्र नए, असाधारण भावों एवं चित्रों का ग्रथन किया गया है। इस अनवरत अवधान के बावजूद विभिन्न पंक्तियों और पद्यों की अन्विति बिठाना सर्वत्र सहज नहीं होता। अतः पढ़नेवाला या तो थोड़ी ही देर में थक जाता है अथवा वह विभिन्न भावों की संगति की परवाह न करके अकेले चित्रों से चमत्कृत होता चलता है। हमें भय है कि अधिकांश पाठकों के भाग्य में यह दूसरा अनुभव ही

रहता है।

मेरे एक प्रसिद्ध आलोचक मित्र ने प्रसाद की प्रशंसा करते हुए कहा कि उनकी कामायनी में Human interest (मानवी भावों की रोचकता) नहीं है, but he has filled the void with images (किन्तु उन्होंने शून्य को मनोरम चित्रों से भर दिया है।) हमारा विचार है कि काव्य में Human interest न होना एक ऐसा पाप है जिसका प्रायश्चित नहीं है। असम्बद्ध चित्रों के महत्त्व के सम्बन्ध में प्रसिद्ध साहित्य-विचारक कालिरिज का कहना है कि

Images, however beautiful, though faithfully copied from nature, and as accurately represented in words, do not of themselves characterize the poet. They become proofs of original genius only in so far as they are modified by a predominant passion or when they have the effect of reducing multitude to unity, or succossion to an instant; or lastly when a human and intellectual life is transferred to them from the poet's own spirit. (Biographia Literaria)

अर्थात् 'चित्रों का विधान, फिर चाहे वे प्रकृति की कितनी ही ठीक प्रतिलिपियाँ हों और ठीक-ठीक शब्दों में उतारे गए हों, कवि की प्रकृत विशेषता नहीं है। वे (चित्र) कवि की प्रतिभा तभी प्रमाणित करते हैं जब वे एक प्रधान आवेग द्वारा नियन्त्रित हों— अथवा जब वे विभिन्नताओं को एकता में, संवेदन-परम्परा को समकालिकता के अनुभव में, परिणत करते हों; किंवा जब कवि की आत्मा उन्हें अपने मानवी (रागात्मक) अथवा बौद्धिक जीवन से अनुप्राणित कर रही हो।' यहाँ प्रसंग-वश हम कह दें कि कालिरिज स्वयं एक रोमांटिक कवि था और उसके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह काव्य का "क्लासिकल" पैमाना प्रस्तुत कर रहा है।

किन्तु क्या नूतन और असाधारण भावचित्रों का विधान उच्चतर मौलिकता का प्रमाण नहीं है ? इस सम्बन्ध मे हम अंगरेज आलोचक J. L. Lowes के कुछ विचार पाठकों के सामने रक्खेंगे। वह कहता है,

For originality, rightly understood, seldom concerns itself with inventing a new and particular medium of its own.

The current notion that invention is a mark of high originality is one of the vulgar errors that die hard.

(Convention & Revolt in Poetry, पृ० ७०)

अर्थात् 'मौलिकता का ठीक अर्थ नए—निराले माध्यम की सृष्टि नहीं है। ...... यह प्रचलित धारणा कि नूतन रचना उच्च मौलिकता का चिह्न है सर्वसाधारण की उन भूलों में से है जिनका निराकरण नितान्त कठिन है।' उसी लेखक के निम्न वाक्य भी विचार-योग्य हैं—

We have in the first place an innate bias for the familiar. (पृ० ६२)

Whatever is too familiar wearies us. (पृ०६३)

(True genius) gives to expected the thrill of a discovery. [पृ० ६४]. The oldest things in the world are the things that also have been new as many times as human beings have been born. [पृ० ८६]

भाव यह है कि 'परिचित वस्तुओं से हमें एक नैसर्गिक प्रति होती है, साथ ही यह भी सत्य है कि अति परिचय अवज्ञा या ऊब उत्पन्न करता है ।......प्रतिभाशाली कलाकार परिचित-प्रत्याशित वस्तु को नए अन्वेषण की भाँति उपस्थित करता है। विश्व की प्राचीनतम वस्तुएँ उतनी ही बार नूतन बन गई हैं जितनी बार नई मानव-सन्तानें पैदा हुई हैं।'

अभिप्राय यह है कि प्रतिभाशाली कलाकार परिचित परिवेश का

तिरस्कार न करके उसी में नूतन सौन्दर्य का आविष्कार कर डालता है—उसे एक नए ढंग से उपस्थित कर देता है। सूर के विस्तृत बाल-काव्य के होते हुए भी रवीन्द्र को वास्तविक बाल-जीवन में अभिनव विचित्रताएं खोज लेना कठिन नहीं हुआ। यही बात प्रेम-काव्य और प्रकृति-काव्य को भी लागू है। जब कोई प्रतिभा नई बार कहीं सौन्दर्य और आकर्षण का अनुभव करती है तो उसकी तद्-विषयक कला-सृष्टि स्वतः नई और ताजी मालूम पड़ने लगती है। इन गुणों की प्रतिष्ठा के लिए कलाकार को लोक-सामान्य भावभूमि का अतिक्रम करना जरूरी नहीं है, भले ही वह उस परिधि में कुछ नए तत्त्वों को भी खींच लाए। वस्तुतः मौलिकता का चमत्कार सर्वसाधारण को गोचर होने वाले तत्त्वों के नए संविधान (wholes) प्रस्तुत करने में जितना दिखाई देता है उतना विचित्रताओं के विधान में नहीं। रवीन्द्र की सर्वश्रेष्ठ गीति 'उर्वशी' में सम्भवतः एक भी ऐसा चित्र नहीं है जो लोक-संवेदना के बाहर हो, फिर भी, ग्रथन की नूतनता के कारण, वह एक नितान्त मौलिक कृति है।

प्रतिभाशाली कलाकार मानवता की धुँधली प्रतीतियों को स्पष्ट अभिव्यक्ति देकर और उसकी परिचित अनुभूतियों को नए सन्दर्भों में प्रतिष्ठित करके अपनी मौलिकता का परिचय देता है। पहली प्रति-क्रिया से वह मानव-चेतना की परिधि बढ़ाता है, दूसरी से पाठकों की कल्पना-शक्ति। और जब वह अपनी कला में नितान्त नई प्रतीतियों को प्रविष्ट करता है तो इस ढंग से कि वे सामान्य चेतना को अजनबी मालूम न पड़ कर उसका स्वाभाविक प्रसार जान पड़ें। यह तभी संभव है जब कलाकार अपनी नूतन प्रतीतियों को अलग प्रस्तुत न करके सामान्य अनुभूतियों के साथ ग्रथित कर दे। परिचित और अल्प-परिचित अथवा अपरिचित का यह सहभाव श्रेष्ठ कवियों की वाणी के प्रभाव का रहस्य है। ए० सी० वार्ड ने लिखा है,

The great survive by reason of their unification of the commonplace and the exceptional: it is so with chaucer, with Shakespeare, with Wordsworth, with Keats.

with Dickens [Epilogue to English Literature Modern by G. H. Mair].

छायावादी काव्य सामान्य और असामान्य तत्वों का मेल प्रस्तुत नहीं करता। उसकी प्रवृत्ति असाधारण सूक्ष्म गुम्फन की ओर रही जिसने उसे कभी साधारण शिक्षित जनता के लिए ग्राह्य नहीं होने दिया। स्थूल एवं सशक्त स्पर्शों का एकान्त अभाव उसके प्रभाव-ग्रहण में प्रबल बाधक हो जाता है। यह कमी प्रसाद और महादेवी में अधिक खलती है।

छायावादी कवियों की असाधारण कल्पनाएँ या प्रतीतियाँ दो वर्गों में बाँटी जा सकती है—(१) वे जिनका साधारणीकरण होता ही नहीं, प्रयत्न करने पर भी पाठक जिन्हें नहीं ग्रहण कर पाते; और (२) वे जिनका साधारणीकरण पाठकों के मनोयोग एवं प्रयत्न से हो जाता है।

प्रथम कोटि की रचनाएँ प्रसाद और निराला में अधिक मिलेंगी, महादेवी और पन्त में उत्तरोत्तर कम। दूसरी कोटि की रचनाएँ प्रायः प्रसाद और महादेवी की विशेषता हैं; निराला जी जहाँ स्पष्ट हैं वहाँ एकदम स्पष्ट है, और जहाँ अस्पष्ट या असाधारण हैं वहाँ समझने की कोशिश विशेष फलवती नहीं होती। प्रायः सर्वत्र इस प्रकार की कोशिश "ठोंक-पीट कर वैद्यराज" बनाने के समान जान पड़ती है।

'कामायनी' का पचास प्रतिशत, कम-से-कम मेरी जैसी बुद्धि के पाठकों के लिए, अस्पष्ट या असाधारण है; और इसका मतलब यह है कि प्रायः वह सारा काव्य पाठकों को पहेली-बुझौवल सा मालूम होता है। ऐसा किसी एक सुलक्षित दुर्बलता के कारण है, यह समझना वस्तुस्थिति को सरल (simplify) करने की चेष्टा होगी। वास्तव में विभिन्न कमजोरियाँ—रागात्मक और विचारात्मक विसंगतियाँ, भावों की असाधारणता, कथा-प्रवाह की शिथिलता, पात्रों को वृत्तियों की भाँति समझने-चित्रित करने की प्रवृत्ति—मिलकर ऐसा प्रभाव उत्पन्न करती हैं। प्रथम भेंट में श्रद्धा मनु से पूछती है,

कौन तुम ? संसृति-जलनिधि तीर तरंगों से फेंकी मणि एक

× × × ×

मधुर विश्रान्त और एकान्त—जगत का सुलझा हुआ रहस्य
एक करुणामय सुन्दर मौन, और चंचल मन का आलस्य

यहाँ प्रथम पद्य सुबोध और सुन्दर है, दूसरा वैसा नहीं है; विशेषतः उसका अन्तिम चरण प्रयत्न करने पर भी समझ में नहीं आता—मनु को 'चंचल मन का आलस्य' कहने से क्या मतलब हो सकता है ? अपना परिचय देते हुए मनु जब कहते हैं—'मैं पाणंड वह हिम-खण्ड हूँ जो गल नहीं सका, जो शैल-निर्झर नहीं बना और दौड़ कर समुद्र की गोद में न पहुँच सका' तो यह समझ में नहीं आता कि हिम-खण्ड का वैसा ही बना रहना दुर्भाग्य क्यों है। बाल-सूर्य की किरणों में चमकता हुआ स्वच्छ धवल हिमखंड हमें अभागा तो नहीं मालूम पड़ता !

आगे चल कर मनु श्रद्धा को पुरुष की भाँति संबोधित करते हैं। देव सृष्टि का विलास और ध्वंस देखने के बाद वे इतने अबोध कैसे रह गए ! 'चिंता'-प्रकरण तो यह भावना नहीं जगाता। और श्रद्धा भी नहीं जानती कि वह नारी है, यद्यपि वह 'सजग चिति' और 'भूमा के मधुमय दान' पर व्याख्यान झाड़ती है ! जब वह कहती है कि,

समर्पण लो सेवा का सार, सजल संसृति का यह पतवार
आज से यह जीवन उत्सर्ग, इसी पदतल में विगत विकार

तो पाठक को खयाल होता है कि श्रद्धा मनु के पास पहुँच गई, किन्तु बाद के सर्गों से पता चलता है कि अभी उस मिलन में कुछ विघ्न हैं, जिन्हें दूर होना है।

'काम' सर्ग में जब मनु कहते हैं,

है स्पर्श मलय के झिलमिल सा
संज्ञा को और सुलाता है,
पुलकित हो आँखें बन्द किए
तन्द्रा को पास बुलाता है।

तो भ्रम होता है कि वे प्रेयसी के उपयुक्त स्पर्श-सुख का वर्णन कर रहे हैं, यद्यपि अभी वैसी बात है नहीं—अभी मिलन ही नहीं हुआ है।

महादेवी जी की कुछ असाधारण कल्पनाएँ या प्रतीतियाँ

देखिए,

(१) फिर तुमने क्यों शूल बिछाए ?
इन तलवों में गति परिमल है
झलकों में जीवन का जल है
इन से मिल काँटे उड़ने को रोए झरने को मुस्काए !
(दीपशिखा—२८)

(२) पूछता क्यों शेष कितनी रात ?
अमर सम्पुट में ढला तू,
छू नखों की कान्ति चिर
संकेत पर जिनके जला तू,
स्निग्ध सुधि जिनकी लिए कज्जल दिशा में हँस चला तू,
परिधि बन घेरे तुझे वे उँगलियाँ अवदात !
(दीपशिखा, ४२)

दूसरी कविता संभवतः 'मेघ' को सम्बोधित है। दोनों पद्य प्रारम्भिक हैं।

निराला की कविताएँ उद्धृत करना आवश्यक नहीं है। 'अनामिका' की प्रथम दस-बारह कविताओं में पाठक किसी को पढ़ कर समझने की कोशिश करें; उन्हें शायद ही पचास प्रतिशत भी सफलता हो। निराला के काव्य की कठिनाई का प्रमुख कारण अनुभूति का निरालापन है या समजस ग्रथन की अक्षमता, कहना कठिन है।

जहाँ प्रसाद और महादेवी के अस्पष्ट स्थलों में अशक्त किरणों का जमघट-सा दिखाई पड़ता है वहाँ निराला की अस्पष्टता कुहासे से ढंके हुए स्थूलकाय हिमशिखर एवं उसकी वृक्ष-पंक्ति की धुँधली प्रतीति है।

× × × ×

छायावादियों की अस्पष्ट और निसंगत रचनाओं में भी विच्छिन्न, अपने-आप कभी-कभी अपनी मनोरम नूतनता से बड़े आकर्षक लगते हैं। यही कारण है कि वे पाठक जो सामञ्जस्य की परवाह और समन्वित व्यापक प्रभाव की मांग नहीं करते उस काव्य को

काफी सुन्दर पाते हैं। जहाँ ये कवि सामञ्जस्य की प्रतिष्ठा कर पाते हैं और उनके भावों का साधारणीकरण भी सतर्क अनुशीलन द्वारा साध्य होता है, वहाँ वे पाठकों की चेतना को अपनी प्रतीति एवं कल्पना-मूलक नूतनता से चकित किए बिना नहीं रहते। ऐसी कविताएँ हिन्दी साहित्य को छायावाद की अपनी देन हैं। साधारण पाठकों के लिए ये कविताएँ भी कुछ असामान्य हो सकती हैं, पर उनके सौन्दर्य और महत्त्व को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। 'लहर' को सम्बोधित कर प्रसाद कहते हैं,

उठ उठ री लघु लघु लोल लहर!
करुणा की नव अँगराई-सी
मलयानिल की परछाईं सी
इस सूखे तट पर छिटक छहर।
× × × ×
उठ-उठ गिर-गिर फिर-फिर आती
नर्तित पद-चिह्न बना जाती
सिकता की रेखाएँ उभार—
भर जाती अपनी तरल सिहर!

प्रथम पद्य की उपमाएँ—उनकी मूलभूत सादृश्यानुभूति—एकदम नई है। लहर किसी की अँगड़ाई-सी मालूम पड़ती है, वह मलय पवन की परछाईं जैसी है। कितनी कोमल और सूक्ष्म प्रतीति है! अवश्य ही यह प्रतीति कुछ असाधारण है, पर उसका साधारणीकरण दुःसाध्य नहीं। दूसरे पद्य का चित्र भी बड़ा नाजुक (Delicate) है।[1]

'लहर' में ऐसी अनेक रचनाएँ है। महादेवी जी के संग्रहों में भी ऐसी कविताएँ पर्याप्त संख्या में मिलेंगी। विरह-काव्य की लोक-प्रियता के कारण उनकी ऐसी रचनाएँ और भी मार्मिक मालूम पड़ती हैं।

१—पहली उपमा का दोष है, अँगड़ाई और करुणा का गठबन्धन; 'अँगड़ाई' में एक प्रकार की निश्चिन्तता या तुष्टि का भाव है जिसकी 'करुणा' से संगति नहीं बैठती।

मोम-सा तन घुल चुका अब दीप-सा मन जल चुका है।

विरह के रंगीन क्षण ले

अश्रु के कुछ शेष कण ले

वरुनियों में उलझ बिखरे स्वप्न के सूखे सुमन ले

खोजने फिर शिथिलपग

निःश्वास-दूत निकल चुका है! (दीपशिखा)

महादेवी जी कभी-कभी काफी मूर्त्त और मांसल भी हो उठती हैं, पर कम—

कहाँ से आए बादर काले!

कजरारे मतवाले!

पूर्णतया सामान्य (Normal) अनुभूति भी कहीं-कहीं उनके द्वारा वाणी-बद्ध हुई है,

क्या पूजा क्या अर्चन रे?

उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे!

मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनंदन रे!

पदरज को धोने उमड़े आते लोचन में जल-कण रे!

× × × ×

प्रिय-प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे!

क्या ही अच्छा होता कि महादेवी जी तथा अन्य छायावादी कवि ऐसी कविताएँ अधिक लिखते! कुल मिला कर 'लहर' और 'कामायनी' के प्रसाद से महादेवी जी की रचनाएँ लोक-संवेदना के अधिक निकट हैं।

निराला जी की अनुभूति स्वभावतः मूर्त्त और मांसल है। जहाँ वे निरंगनियों से बच सके हैं वहाँ उनकी कविता बड़ी ओजपूर्ण और मनोरम हुई है। सौन्दर्य एवं ओज का मिश्रण—प्रगत्योन्मुख नैतिकता और भास्वर सौन्दर्य का सम्मिलन—उनकी कला की स्पृहणीय विशेषता है। अपनी सर्वोच्च भूमि में उनकी वाणी अतुलनीय है,

क्या गाऊँ? मा! क्या गाऊँ?

गूँज रही हैं जहाँ राग-रागिनियाँ

गाती हैं किन्नरियाँ—कितनी परियाँ—

कितनी पंचदशी कामिनियाँ,

वहाँ एक लेकर यह वीणा दीन
तन्त्री क्षीण—नहीं जिसमें कोई झंकार नवीन
रुद्ध कण्ठ का राग अधूरा कैसे तुझे सुनाऊँ
मा ! क्या गाऊँ ?

उपसंहार

छायावादी कवियों का एक-दूसरे की सापेक्षता में क्या स्थान है, किसका पद सर्वप्रथम है और किसकी स्थिति बाद में, इस सम्बन्ध में आलोचकों ने खुल कर अपना मत प्रकट नहीं किया है। जीवित लेखकों के सम्बन्ध में यह गोपन कुछ हद तक उचित भी है, किन्तु पाठकों के रुचि-परिष्कार की दृष्टि से भ्रामक अथच हानिकर भी हो सकता है। वस्तुस्थिति यह है कि इस सम्बन्ध में काफी मतभेद है।

प्रस्तुत लेखक ने इस सम्बन्ध में कई आलोचक मित्रों से उनकी सम्मति पूछी। एक मित्र ने कहा—प्रसाद और निराला प्रथम श्रेणी के कलाकार हैं, पन्त और महादेवी का स्थान उनके बाद है। दूसरे मित्र की सम्मति में प्रसाद सर्वश्रेष्ठ हैं, उसके बाद पन्त आदि; निराला उन्हें पसन्द नहीं हैं। यहाँ एक दूसरी विचित्रता पर ध्यान देना चाहिए—पहले मित्र की सम्मति में प्रसाद की सर्वश्रेष्ठ कृति 'कामायनी' है, दूसरे के मत में 'लहर'! तीसरे मित्र के सम्बन्ध में सुना कि वे निराला को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, और प्रसाद को दूसरा स्थान देते हैं। ये हुईं आलोचकों की बातें। बिहार के एक प्रसिद्ध कवि की निश्चित सम्मति है कि पन्त का स्थान प्रथम है, उसके बाद निराला, फिर प्रसाद ! हाल ही में मंगला-प्रसाद पारितोषिक के निर्णायकों ने महादेवी जी को पुरस्कार दिया है !

हमने आलोचकों के नाम नहीं दिये हैं, पर पाठक विश्वास करें कि वे सब प्रसिद्ध विद्वान् हैं। इस सम्बन्ध में हम पाठकों पर अपनी सम्मति का बोझ न डाल कर इन विभिन्नताओं के कारणों की खोज करेंगे।

अंगरेजी कवि और आलोचक एबरक्राम्बी ने अपनी छोटी-सी पुस्तक 'साहित्य में प्रगति' (Progress in Literature) में

एक मन्तव्य स्थापित किया है, वह यह कि भाषा की भाँति साहित्य का विकास भी समन्वय से विश्लेषण की ओर, वस्तुओं की संश्लेषणात्मक चेतना से विश्लेषणात्मक चेतना की दिशा में[1] होता है।

कुछ उदाहरणों से यह मन्तव्य स्पष्ट हो जायगा। विश्व को आप्लुत करनेवाले जगमग प्रकाश की चेतना संश्लेषणात्मक चेतना है, अंधकार में लकीर-सी खिंच जानेवाली किरण की चेतना विश्लेषणात्मक चेतना। इसी प्रकार गम्भीर-विस्तृत समुद्र की चेतना संश्लिष्ट चेतना है और विभिन्न रेखाकृतियों में स्पन्दनशील लहरियों की चेतना विश्लेषणात्मक है।

हमारा अनुमान है कि जिन समीक्षकों ने अपना मत प्रसाद की श्रेष्ठता के पक्ष के प्रकट किया है उनकी संवेदना और मस्तिष्क विश्लेषण-प्रिय हैं। महादेवी का काव्य भी पाठकों में विश्लेषणात्मक चेतना जगाता है। पंत में विश्लिष्ट चित्र उपस्थित करने की प्रवृत्ति कम है, और निराला में प्रायः बिलकुल नहीं है। 'पल्लव' तथा 'गुंजन' की अपेक्षा 'ग्राम्या' में विश्लेषण की प्रवृत्ति अधिक है। 'राम की शक्ति उपासना' की कला पूर्णतया संश्लेषणात्मक है।

क्या विश्लेषणात्मकता को कलात्मक मूल्यांकन का मानदंड माना जा सकता है? हमारी समझ में जीवन का व्यापक स्पर्श करा सकना श्रेष्ठ कला का आवश्यक गुण है। इस व्यापकता के साथ यदि कलाकार वैयक्तिक चित्रों या परिस्थितियों की विशिष्ट अथवा विवरणात्मक (Detailed) चेतना भी जगा सके, तो यह उसकी दृष्टिगत बारीकी का प्रमाण होगा।[2] किन्तु व्यापकता का बलिदान करके लायी हुई विशिष्टता वांछनीय नहीं है। स्वयं एबरक्राम्बी ने स्वीकार किया है कि दांते जैसे महान कलाकार समन्वय और विश्लेषण दोनों ही शक्तियों का परिचय देते हैं। साथ ही उसने यह भी

---

१ 'Change from synthesis to analysis. from synthetic to analytic consciousness of things' (पृ० ३८ और ४३)

२—हमारी समझ में विशिष्ट चित्रण मूल्यांकन का स्वतन्त्र पैमाना नहीं है; वस्तु-चेतना को सुगठित अथवा विशद बनाने के कारण ही उसका महत्त्व है।

स्वीकार किया है कि 'समन्वय से विश्लेषण की ओर प्रगति' आवश्यक रूप में उन्नतिमूलक विकास का नियम नहीं है; वह एक परिवर्तन को वर्णन करने का सूत्रमात्र है।

विश्लेषण की प्रवृत्ति आधुनिक उपन्यास में और भी स्पष्ट है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द की प्रतिभा संश्लेषणात्मक है, जैनेन्द्र की विश्लेषणात्मक; रूसी कलाकार टाल्सटाय में ये दोनों शक्तियाँ समान रूप से विकसित पायी जाती हैं।

'ग्राम्या' तक आते-आते पंत की दो प्रमुख दुर्बलताएँ अर्थात् शब्दों और कल्पनाओं का मोह दूर हो चुकी हैं। अब उनकी वाणी अलंकारों के लोभ से बिलकुल मुक्त हो गई है,

'तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार।'

साथ ही उनकी शैली भी संयत, स्वाभाविक और अर्थवती हो चली है। आज उनकी सौन्दर्य और उल्लास, भय और वेदना दोनों की ही अभिव्यक्ति यथार्थ के अधिक निकट पहुँच गया है,

फैली खेतों में दूर तलक
मखमल की कोमल हरियाली,
लिपटी जिसमें रवि की किरणें
चाँदी की सी उजली जाली।

और

अन्धकार की गुहा सरीखी
उन आँखों से डरता है मन,
भरा दूर तक उनमें दारुण
दैन्य-दुःख का नीरव रोदन।

छायावादी कवियों में पन्त की अनुभूति जन-संवेदना के अधिक निकट रही है। इन सब चीजों पर ध्यान देते हुए हम नहीं समझते कि उन्हें किसी भी अन्य छायावादी कवि से नीचा स्थान दिया सकता है।

उनकी वाणी वहीं अखरने लगती है जहां वे कृत्रिम ढंग से मार्क्स-वाद के व्याख्याता या एक रिसर्च स्कॉलर के रूप में बोलने लगते हैं,

> पशु-युग में थे गणदेवों के पूजित पशुपति,
> थी रुद्रचरों से कुंठित कृषि-युग की उन्नति।
> श्री राम रुद्र की शिव में कर जन-हित परिणति,
> जीवित कर गये अहल्या को, थे सीतापति।

इस प्रकार काव्य की प्रकृत भूमि से पतन पन्त जैसे प्रतिभाशाली कवि को शोभा नहीं देता। एक संस्कृत और परिष्कृत कवि-हृदय की प्रतीति, अपने स्थान में, संसार के उच्चतम विचारों से श्रेष्ठ है।

पन्त की तीन प्रमुख कृतियाँ 'पल्लव', 'गुंजन' और 'ग्राम्या' हैं। जिस प्रकार प्रथम अनुभूतिगत सुकुमारता में अद्वितीय है, उसी प्रकार दूसरी मधुर-वेदनात्मक संगीत में; 'ग्राम्या' की विशेषता शैलीगत संयम और अर्थ-गौरव है। 'कामायनी' के अतिरिक्त प्रसाद की मुख्य रचनाएँ 'आँसू' और 'लहर' हैं; पहली मन्द्र गहन संकेतों और दूसरी विविध वार्णिक चित्रों से पूर्ण है। महादेवी की कृतियों में 'नीरजा' 'सान्ध्य गीत' और 'दीपशिखा' महत्त्वपूर्ण हैं। निराला जी की श्रेष्ठ रचनाएँ यत्र-तत्र संग्रहों में बिखरी हुई हैं जिनमें 'परिमल' और 'अनामिका' प्रधान हैं। प्रसाद की 'कामायनी' और निराला का 'तुलसीदास' हमें उतने पसन्द नहीं हैं, यद्यपि दोनों की प्रबन्ध कल्पना सराहनीय है। अवश्य ही 'कामायनी' इतनी बड़ी है कि उसमें यत्र-तत्र आकर्षक चीजें मिल सकें। 'तुलसीदास' के भी कुछ अंश मार्मिक हैं।

उल्लिखित कृतियों में से ही वर्तमान हिन्दी गीतकाव्य का स्वर्ण-कोष (Golden Treasury) संकलित किया जा सकता है। यद्यपि उसका आकार बड़ा नहीं होगा, पर उसमें विविधता और

सौन्दर्य, वेदना और उल्लास एवं करुण-मधुर संगीत पर्याप्त मात्रा में होगा।

भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से छायावाद का विकास एकांगी हुआ। उसकी व्यञ्जना में जितना सौन्दर्य है, उतनी शक्ति नहीं; जितनी चमक है उतना प्रकाश नहीं; जितनी बारीकी है, उतनी दृढ़ता नहीं। उसके संगीत में प्रवाह की, भावों में गहराई की और विचारों में दीप्ति की कमी रही। उसकी कल्पना कभी प्रतिभा की ऊँचाइयों पर न पहुँच कर विचार-पर्वत के कटि-प्रदेश को छूकर रह जाती है; उसकी अनुभूति आवेग-समुद्र की गहराइयों में न घुसकर सतह की लहरों में तिरती-किलकती रहती है। अवश्य ही दो-चार रचनाएँ इसका अपवाद हैं, पर वे नियम को सिद्ध ही करते हैं।

डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है कि 'प्रगतिवाद छायावाद की भस्म से नहीं पैदा हुआ, वह उसके यौवन का गला घोंट कर ही उठ खड़ा हुआ है।' (विचार और अनुभूति, पृ० ७०) हमारे विचार में छायावाद को यौवन काल तक पहुँचने का अवसर ही नहीं मिला। मानव-अनुभूति के जिस पहलू को लेकर छायावाद चला था उसे अभिव्यक्तिगत पूर्णता मिल सकने से पहले ही देश में "सामाजिक क्रान्ति" की पुकार उठने लगी, जिसके फलस्वरूप हमारे गीत काव्य का विकास अधूरा ही रह गया। हमें भय है कि साम्प्रतिक प्रगतिवाद का विकास भी वैसा ही हो रहा है—उसमें भी अनुभूतिगत ईमानदारी और व्यञ्जनागत संयम की कमी है; और इस बात का खतरा है कि छायावाद की भाँति वह भी हमारे साहित्यिक इतिहास का एक अधूरा परिच्छेद बन कर रह जाय। सम्भवतः पाठक हमारा अभिप्राय समझ रहे हैं; किसी भी कक्षा की अनुभूति की पूर्ण अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत लम्बे जातीय प्रयत्न की अपेक्षा रखती है। अंग्रेजी साहित्य की तथाकथित "क्लासिक" और "रोमांटिक" परम्पराएँ इसका प्रमाण हैं। जहाँ पहली अठारहवीं शताब्दी के प्रायः तीन चरणों में प्रसरित रही, वहाँ दूसरी कवि ब्लेक से शुरू होकर वर्ड्स्वर्थ, शैली, कीट्स, बायरन आदि में पुष्पित-पल्लवित होती हुई टेनिसन

और येट्स [W B. yeats] तक पहुँचती दिखाई देती है। सम्भवतः हमारी ऐतिहासिक परिस्थिति में विशुद्ध वैयक्तिक प्रगीत काव्य को विकास का इतना अवसर नहीं मिल सकता था, पर यह आवश्यक न था कि वैयक्तिक से सामाजिक चेतना की ओर संक्रमण तीव्र विद्रोह या विच्छेद का रूप धारण करता। हमारा अनुमान है कि छायावाद की वैयक्तिकता से अधिक उसकी अनुभूति और व्यंजना का निगूहन ही इस विच्छेद का प्रमुख कारण हुआ।

व्यक्ति और समाज, वैयक्तिक और समाजिक चेतना, एक-दूसरे में ओतप्रोत हैं; दोनों का एकान्त अलगाव न संभव ही है, न अपेक्षणीय। हम न उस समाजभीरु गायक के जीवन को पूर्ण समझते हैं जो मानवता के इतिहास से भाग कर निर्जन कुञ्जों और कछारों में लता-पल्लवों तथा लहरों को अपना संगीत सुनाता फिरे, और न उस व्यस्त व्यवसायी के जिसे न कभी प्रकृति एवं प्रेयसी की भंगिमाएँ देखने का अवसर मिलता है, और न बृहद् ब्रह्माण्ड के विस्मयपूर्ण अनुचिन्तन का। जहाँ हम यह स्वीकार करते हैं कि अन्ततः व्यक्ति सामाजिक वास्तविकता का न अतिक्रम ही कर सकता है, न उपेक्षा; वहाँ हम भावना और चिन्तन की उस भूमिका की सम्भावना से इनकार नहीं करते जहाँ मजनू को लैला की मुस्कान किसी के कुबेर स्वर्णकोश से अधिक मूल्यवान् लगती है, अथवा जहाँ साधक या विचारक को मानवीय इतिहास का सारा नाटक अनन्त देशकाल की तुला का पासंग मात्र मालूम पड़ता है।

आलोचक साहित्यिक प्रगति के लिए खतरनाक होता है। अंग्रेजी जैसे समृद्ध साहित्य के समीक्षक एक ओर जहाँ बर्नार्ड शा एवं आर्नल्ड बेनेट सरीखे यथार्थानुगामी साहित्यकारों का महत्त्व देख सकते हैं वहाँ वाल्टर डिला मेयर जैसे स्वप्नदर्शियों को भी अस्वीकार नहीं करते। श्रेष्ठ आलोचक जहाँ मूल्यांकन करते समय लेखक-विशेष की सीमाओं का निर्देश करना नहीं भूलता, वहाँ, विशिष्ट क्षेत्र में, उसकी शक्ति और रचना-सौष्ठव को स्वीकार करने में संकोच का अनुभव नहीं करता।

हिन्दी भाषा अभी निर्माण की अवस्था में है, विशेषतः उसकी काव्य शैली में अभी तक सन्तुलन नहीं आ पाया है। ऐसी दशा में अलोंचकों का कर्तव्य है कि वे वाणीगत शक्ति और पूर्णता को विशेष प्रोत्साहन दें, और वादों की सरगर्मी में पड़कर वास्तविक कृतित्व की उपेक्षा एवं निर्बल दलानुगामिताका विज्ञापन और प्रशंसा न करें।

छायावाद की एकांगी विभूतियाँ अभी तक ऐसे कृती कलाकार की बाट जोह रही हैं जो उनकी रत्नकिरणों को सादर ग्रहण करके काव्य-लक्ष्मी की अभिनव साज-सज्जा में यथास्थान विजड़ित कर सके। उनकी एकान्त उपेक्षा या तिरस्कार करके वह साज-सज्जा पूर्ण न हो सकेगी, इसमें हमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

पर निर्भर करती है; वास्तविकता का सर्वानुभूत रूप ही उसकी कसौटी है। प्रेमचन्द का 'गोदान,' टॉल्स्टाय का 'युद्ध और शान्ति' तथा सूर का बाल-काव्य ऐसा ही साहित्य है।

आत्मनिष्ठ साहित्य अथवा गीतकाव्य की सफलता किसमें है? मुख्यतः इसमें कि वह हममें उस मनोदशा को जगा सके जिसका रचयिता ने अनुभव किया था—हम कवि के साथ सुख, दुःख का अथवा चिन्तनात्मक तादात्म्य अनुभव कर सकें। यह तभी संभव है जब (१) कवि ने स्वयं एक विशद मनोदशा का अनुभव किया हो; और (२) वह उसे विशद रूप में शब्द-बद्ध कर सका हो। विशद रूप में अनुभूत या मनः प्रत्यक्षीकृत मनोदशा ही "उपभुक्त" मनोदशा है।

हमने कहा कि गीतबद्ध मनोदशा, चिन्तनात्मक तत्त्वों के समावेश से, काफी जटिल भी हो सकती है। लम्बी चिन्तनात्मक कविता में प्रायः विविध आवेगों या भावों (हर्ष, विस्मय, करुणा, वैराग्य) की न्यूनाधिक संबद्ध शृंखला या परम्परा रहती है। कीट्स की "बुलबुल" (नाइटिंगेल) कविता ऐसी ही है। किन्तु हर दशा में यह आवश्यक है कि कविता के विभिन्न खण्डों में उपभुक्त मनोदशाओं अथवा विशद रागात्मक प्रतिक्रियाओं का संनिवेश रहे; अन्यथा रचनागत अनुभूति के ग्रहण या प्रेषण में बाधा पड़ेगी।

छायावादी काव्य स्पष्ट ही दूसरी (आत्म निष्ठ) कोटि का है। उसमें प्रेषणीयता की कमी होने का एक प्रमुख कारण यह है कि छायावादी कवि अक्सर अर्ध-भुक्त मनोदशाओं को प्रकट करने बैठ जाते हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में (१) आन्तरिक रागात्मक सामञ्जस्य की कमी दिखाई देती है; (२) भावों का व्यवस्थित क्रम या निर्वाह नहीं होता—विचार "जगमगाते हुए"[१] नहीं निःसृत होते; और (३) रस-परिपाक में बाधा पड़ती है।

१—संभवतः शुक्ल जी ने कहीं इस व्यंजना का प्रयोग किया है। 'कामायनी' के अन्तिम दो सर्गों में विचार स्पष्ट रूप ले सके हैं।

बहुत-से नए उदाहरण देना अपेक्षित नहीं है। महादेवी की 'प्राण-पिक प्रिय-नाम रे कह' तथा 'मैं नीर भरी दुख की बदली' पंक्तियों से शुरू होनेवाली कविताएँ अर्धमुक्त मनोदशाओं का जमघट हैं—वहाँ न 'प्रिय-नाम' की तीखी याद है, न 'दुख की बदली' के सादृश्य की मार्मिक अनुभूति। इसी प्रकार 'कामायनी' में जहाँ-तहाँ विचार-छायाओं का जमघट है, सशक्त विचार बहुत कम (उदाहरण के लिए सम्पूर्ण "इड़ा"-खण्ड इसका निदर्शन कहा जा सकता है।)

पाठक कहेंगे—तभी तो इस काव्य का नाम छायावाद है; वहाँ छायामय, धुँधले विचारों और भावनाओं के अतिरिक्त क्या आशा की जा सकती है। किन्तु छायावादी काव्य की एक नई श्रेणी तो स्वीकार नहीं की जा सकती; उसे सामान्य काव्य की (और गीत-काव्य भी असामान्य काव्य नहीं है) कसौटी पर तो जाँचना ही पड़ेगा।

यहीं चलते-चलते हम कुछ शब्द बच्चन के सम्बन्ध में कह दें। बच्चन के काव्य का मूल्यांकन करने की चेष्टाएँ कम हुई हैं। हिन्दी के मान्य आलोचक उनके सम्बन्ध में कम बोलते रहे हैं। बच्चन की लोक-प्रियता का क्या महत्त्व रहा है। बच्चन भी विशुद्ध गीतकार, आत्मनिष्ठ कवि हैं। बात यह है कि बच्चन अमूर्त मानसिक दशाओं को बड़े प्रभावशाली ढंग से व्यक्त या मूर्त करते हैं। और उनकी भावनाएँ बड़े विशद रूप में अनुभूत एवं प्रकाशित होती हैं। इस दृष्टि से कोई छायावादी कवि उनकी बराबरी का दावा नहीं कर सकता। बच्चन की कमी, और बहुत बड़ी कमी, यह है कि उनकी अनुभूति का क्षेत्र बड़ा संकुचित है। उनकी श्रेष्ठतम कविताएँ वे हैं जिनमें बेकारी से पीड़ित मध्यवर्ग की निराशा अथवा अवसादमूलक जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति हुई है। अन्य क्षेत्रों में वे उतना कृतित्व भी सफल नहीं हुए हैं, और सम्प्रति उनकी कला उतार पर है। गीत-काव्य के प्रमुख पक्षों—सौन्दर्य और प्रेम—से बच्चन का अन्तरंग परिचय नहीं है; इसीलिए, वे शिल्प-पूर्णता के बावजूद, वे छायावाद के प्रमुख

कवियों के समकक्ष नहीं मालूम पड़ते। बच्चन का काव्य विशिष्ट अर्थ में छायावादी काव्य नहीं है।

दो शब्द छायावादी प्रतीक-विधान के सम्बन्ध में। हम मानते हैं—और विश्व के सारे रसज्ञ पाठक-आलोचक हमारे साथ हैं—कि शैली के अशेष प्रयोग साधन हैं, साध्य नहीं। साध्य है पाठक को अनुभूत वास्तविकता अथवा उपभुक्त मनोदशा से परिचित बनाना। इस प्रकार की वास्तविकता या मनोदशा के अभाव में प्रतीक विधान निरर्थक या हास्यास्पद हो जाता है। एक आधुनिक आलोचक के शब्दों में,

The only excuse for symbol is that something vital about human life can be better or more fully said in that way than in any other. The danger of it is that it affords one of the easiest means of escape into the lotus-land of unreality. (Martin Gilkes, A Key to Modernist Poetry, पृ० १५८)

अर्थात्—'प्रतीक विधान का औचित्य यही है कि वह जीवन की किसी महत्त्वपूर्ण वास्तविकता को अधिक सफलता से व्यक्त कर सके; उसका खतरा यह है कि वह अवास्तविक कल्पना-लोक में पलायन करने का सबसे सुगम रास्ता बन जाता है।' छायावादी कवि अक्सर प्रतीक-विधान को साध्य अथवा वास्तविकता (अनुभूति) का स्थानापन्न समझते दिखाई पड़ते हैं। कम से कम यह निश्चित है कि प्रतीकों का प्रयोग छायावाद या किसी अन्य काव्य के लिए आवश्यक रूप में श्लाघा की बात नहीं है। यही बात अन्य प्रकार के शैलीगत प्रयोगों को लागू है। प्रयोगशील साहित्य के स्रष्टा और प्रशंसक प्रायः इस तथ्य को भूल जाते हैं कि साहित्य की एकमात्र कसौटा जीवन की वास्तविकता है; वे प्रायः शैलीगत नवीनता में अनावश्यक महत्त्व का अनुभव करने लगते हैं। वर्जीनिया वुल्फ तथा जेम्स ज्वायस का कुछ दिन पहले तक होनेवाला महत्त्वस्थापन इस वृत्ति का निदर्शन है; इजरा पाउण्ड की अतिरंजित प्रशंसा भी इसी का नमूना

है । ज्वायस के "यूलिसीज़" के सम्बन्ध में उपन्यासकार फ्रैंक स्विनर्टन ने लिखा है,

In the same way there is said to be some magic in its concern with eighteen hours of time. I do not understand that, either.

(The Georgian Literary Scene, पृ० ३१२)

अर्थात् 'उपन्यास का विषय जीवन के केवल अठारह घण्टे हैं, इस बात में लोगों को जादू जैसा (महत्त्व) मालूम पड़ता है। मेरी समझ में वह नहीं धँसता।' इस प्रकार का मतभेद आपको सीधी शैली के मनीषी कलाकारों (व्यास, कालिदास, टाल्स्टॉय, शेक्सपियर) के सम्बन्ध में नहीं मिलेगा।

अपने समय में छायावादी कवि क्रान्तिकारी अर्थ में प्रयोगशील समझे जाते थे; आज "तारसप्तक" के कुछ कवियों को उनकी शैली और संगीत पिछड़े हुए मालूम पड़ते हैं। शायद अगले ही दशाब्द में उनकी शैलियाँ पुरानी घोषित कर दी जायँगी। जो चीज कभी पुरानी नही पड़ती वह है—जीवन का विशद स्पर्श और उसकी विशद अभिव्यक्ति। एक मात्र जीवन ही चिर-नवीन, सतत-रोचक है। सब प्रकार की प्रयोगशीलता को जीवनाभिव्यक्ति का साधन होना चाहिए।

परिशिष्ट (ख)

छायावाद के मण्डन का एक प्रयत्न

अपने यौवन-काल में छायावाद ने, अन्य गम्भीर प्रश्नों की भाँति, काव्य के स्वरूप, प्रयोजन आदि पर भी दायित्वपूर्ण चिन्तन करने की आवश्यकता महसूस नहीं की; किन्तु प्रगतिवादी समीक्षकों के विरोध ने उसे बरबस आत्म-परितोष (सेल्फ़-कम्प्लेसेन्सी) की निद्रा से जगाया और उसके समर्थकों को इन प्रश्नों पर सोचने को बाध्य किया। छायावाद के मण्डनात्मक इन प्रयत्नों में महादेवी जी के निबन्धों का एक विशेष स्थान है।

निबन्ध विचारपूर्ण हैं और कहीं-कहीं साहित्य-सम्बन्धी मार्मिक तथ्यों को सामने लाते हैं। उनकी कमी यही है कि वे मुख्यतः छायावाद के मण्डनार्थ विवाद एवं आत्म-रक्षण की "स्पिरिट" में लिखे गए हैं। इसीलिए वे काव्य के सामान्य अथवा व्यापक रूप को स्पष्ट करने में समर्थ नहीं हो सके हैं। महादेवी जी जब काव्य के सम्बन्ध में सोचने-लिखने बैठीं तब उनके सामने मुख्यतः छायावादी तथा रहस्यवादी काव्य ही रहा, अतएव उनकी अधिकांश परिभाषाएँ और व्याख्याएँ अव्याप्ति दोष से दूषित हो गईं।

उदाहरण के लिए जब वे संकेतित करती हैं कि काव्य का काम 'खण्ड में अखण्ड की स्थिति को प्रेषणीय बना लेना' है, अथवा वह 'बहिर्जगत् से अन्तर्जगत् तक फैले और ज्ञान तथा भावक्षेत्र में समान रूप से व्याप्त सत्य की अभिव्यक्ति' का माध्यम है तो, वेदान्त की भूमि में पले हुए होने पर भी, हम यह समझने में असमर्थ महसूस करते हैं कि कैसे यह वर्णन 'मेघदूत' 'शाकुन्तल' 'मेघनादवध' तथा शेक्स-पियर की 'लियर' 'हैमलेट' आदि काव्य-कृतियों को लागू हो सकता है। 'जीवन का वह असीम और चिरन्तन सत्य' आदि व्यञ्जनाएँ सुनने में तो अच्छी लगती हैं, पर वे साहित्य के सामान्य स्वरूप को भी हृदयंगम कराती हैं, इसमें सन्देह है।

इसी प्रकार महादेवी जी ने जगह-जगह 'सूक्ष्म' शब्द का रहस्यात्मक प्रयोग किया है। कभी-कभी भ्रम होता है कि 'खण्ड में स्थित अखण्ड' अथवा 'असीम और चिरन्तन सत्य' की भाँति सूक्ष्म शायद वेदान्त के ब्रह्म का पर्याय हैं, कभी वह आत्मनिष्ठ विकारों अथवा भाव-जगत का वाचक मालूम पड़ता है; कहीं-कहीं वह "मानवता की आदर्शोन्मुखता अथवा आदर्श स्थिति" का संकेत करता प्रतीत होता है। नीचे के वाक्यों में पाठक 'सूक्ष्म' की यह तीनों ही झलकें पा सकते हैं :—

(१) सूक्ष्म की सौन्दर्यानुभूति और रहस्यानुभूति पर आश्रित गीतकाव्य (पृ० ६८)

(२) सृष्टि के बाह्याकार पर इतना लिखा जा चुका था कि हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा (५६) ...अपनी सूक्ष्म भावनाओं को कोमलतम कलेवर दिया। (पृ० ६५)

(३) अपने व्यक्त सत्य के साथ मनुष्य जो है और अपने अव्यक्त सत्य के साथ वह जो कुछ होने की भावना कर सकता है वही उसका स्थूल और सूक्ष्म है। (पृ० ६८)

'वह सूक्ष्म जिसके आधार पर एक कुत्सित से कुत्सित, कुरूप से से कुरूप और दुर्बल से दुर्बल मानव वानर या वनमानुष की पंक्ति में न खड़ा होकर सृष्टि में सुन्दरतम ...श्रेष्ठतम मानव के भी कन्धे से कन्धा मिलाकर उससे प्रेम और सहयोग की साधिकार याचना कर सकता है, वह सूक्ष्म जिसके सहारे जीवन की विषम अनेकरूपता में भी एकता का तन्तु ढूँढ़ कर हम उन रूपों में सामजस्य स्थापित कर सकते हैं.....'

अन्तिम वाक्य फिर हमें 'सूक्ष्म' के पहले अर्थ का स्मरण कराता है। कहीं-कहीं 'सूक्ष्म' का सीधा अर्थ भी लिया गया है अर्थात् स्थूल का उलटा और तब यह कहा गया है कि छायावाद में जीवन और प्रकृति का सूक्ष्म सौन्दर्य व्यक्त हुआ है।

एक विवेचनात्मक कृति में शब्दों का ऐसा शिथिल-प्रयोग, हमारी

समझ में, वाञ्छनीय नहीं हैं; उससे चिन्तन का धरातल नीचा हो जाने का भय रहता है, साथ ही सत्य की प्रतीति और ग्रहण में बाधा पड़ती है।

'सूक्ष्म' की भाँति ही 'इतिवृत्त' शब्द का भी अनिश्चित प्रयोग किया गया है। इसकी कुछ चर्चा भूमिका में हो चुकी है।

महादेवी जी ने प्रगतिवादी और यथार्थवादी विरोधियों को उत्तर देने की चेष्टा की है, और उसमें कुछ अंश तक सफल भी हुई हैं। किन्तु इससे यही सिद्ध होता है कि वे आलोचक छायावाद की न्यूनताओं को ठीक से नहीं पकड़ सके, न कि यह कि उसमें कमियाँ हैं ही नहीं। प्रायः ऐसा होता है कि हम कृति-विशेष के गुण-दोषों को महसूस करते हुए भी उन्हें नाम नहीं दे पाते।

'छायावाद के जन्म काल में मध्यम वर्ग की ऐसी क्रान्ति नहीं थी। आर्थिक प्रश्न इतना उग्र नहीं था··हमारे सांस्कृतिक दृष्टिकोण पर असंतोष का इतना स्याह रंग भी नहीं चढ़ा था। तब हम कैसे कह सकते हैं कि केवल संघर्षमय यथार्थ जीवन से पलायन के लिए ही उस वर्ग के कवियों ने एक सूक्ष्म भाव-जगत् को अपनाया ?' (पृ० ७५) महादेवी जी का विचार है कि छायावाद की पलायन-वृत्ति सिद्धार्थ की पलायन वृत्ति है, वह जीवन के अंत परिचय से जगी पूर्णत्व की वासना ('यथार्थ की पूर्ति') रूप है।

हम मानते हैं कि जीवन में पूर्णत्व की वासना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पर क्या किसी छायावादी कवि में इस वासना की तीव्र अनुभूति मिलती है ? हमारा विचार है कि इस प्रकार की वासना की, छायावादी सजावट-प्रियता और कल्पनात्मक निपुणता से संगति ही नहीं बैठती। जो आत्मग्लानि और सरलता की भावना आध्यात्मिक पूर्णता की साधना के लिए अपेक्षित है वह न छायावादी कवियों के जीवन में मिल सकती है, न उनके काव्य में; अतः छायावादी रहस्यवाद को कबीर तथा उपनिषदों के समकक्ष बिठाने की चेष्टा हास्यास्पद है। वस्तुतः छायावादी काव्य मुख्यतः लौकिक प्रेम और सौन्दर्य का काव्य है और इसी रूप में उसका मूल्यांकन होना चाहिए।

अवश्य ही काव्य-विरोध का सांस्कृतिक धरातल उपेक्षणीय नहीं, पर वह धरातल आध्यात्मिकता के नाम से ही ऊंचा नहीं हो जाता, और न मानवी होने से नीचा ही हो जाता है। अतः छायावादी यदि आध्यात्मिक कहाने का लोभ संवरण करेंगे तो उनकी कोई क्षति न होगी। जहाँ यह मानना उचित ही है कि छायावादी प्रेम-काव्य का धरातल (शारीरिक आलंबन का अभाव होने से) रीति काव्य से उच्चतर है, वहां हमें यह कहने में भी संकोच नहीं कि उसमें कबीर, मीरा और तुलसी की निर्मलता एवं ऊँचा उठाने की क्षमता का अभाव है।

हमारी छायावाद से मुख्य शिकायत यह नहीं है (और यहाँ हमारा प्रगतिवादियों से मतभेद है) कि उसका विषय आध्यात्मिक या असामाजिक है। इस परिस्थिति को न तो हम उसके महत्त्व का कारण मानते हैं न हीनता का। हमारी शिकायत यही है कि छायावादी अनुभूति और अभिव्यक्ति में सरल प्राणवत्ता की कमी है। उसमें ध्वनिपूर्ण शब्दों एवं चित्र-विचित्र कल्पनाओं का आडम्बर अधिक है, स्वस्थ, निष्कपट, सहज अनुभूति का अंश कम। जीवन के निकट स्पर्श के अभाव में उसका कलेवर निर्जीव साज-सज्जा और चमत्कार से बोझिल है। इस दृष्टि से वह ह्रास युगीन संस्कृत-काव्य और चमत्कारान्वेषी रीतिकाव्य से केवल इसी बात में भिन्न है कि वह शरीर-केन्द्रित न होकर बुद्धि-केन्द्रित है। और हमारी आपत्तियों के उत्तर में केवल यह संकेत कर देना कि 'यह काव्य तो उपनिषदों, कबीर आदि की परंपरा का अर्थात् आध्यात्मिक है आत्म-मंडन का बड़ा लचर प्रयत्न होगा।

प्रेम का विषय कुछ भी हो उसकी अभिव्यक्ति हर दशा में सामान्य मानव द्वारा ग्राह्य और संवेद्य होनी चाहिए। इसे महादेवी जी भी मानती हैं—'इस अरूप-रूप की अभिव्यक्ति लौकिक रूपकों में ही तो संभव होगी' (पृ० १०६); और 'अलौकिक रसानुभूति भी अभिव्यक्ति में लौकिक ही रहेगी' (पृ० १११)। हमारी शिकायत है कि छायावाद की उलझी हुई, संगति शून्य एवं क्लिष्ट-निपुण कल्पनाओं से भरी व्यञ्जना-प्रणाली इस कसौटी पर खरी नहीं उतरती।

छायावाद के अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण समीक्षक श्री नगेन्द्र ने छायावादी शृंगार को लक्ष्य करके लिखा है—'छायावाद में शृंगार के प्रति उपभोग का भाव न मिलकर विस्मय का भाव मिलता है। इसलिए उसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट और मांसल न होकर कल्पनामय या मनोमय है। छायावाद का कवि प्रेम को शरीर (केवल?) की भूख न समझ कर एक रहस्यमयी चेतना समझता है। नारीके अंगो के प्रति उसका आकर्षण नैतिक आतंक से सहम कर जैसे एक अस्पष्ट कौतूहल में परिणत हो गया है।' (विचार और अनुभूति, पृ० ५५) नगेन्द्र जी की संवेदना सराहनीय है, पर उनकी व्याख्या से हम पूर्णतया सहमत नहीं है। छायावादी में नैतिक आतंक नहीं है, वह जीवन के गहरे स्पर्श का अनभ्यस्त है। प्रेम केवल शारीरिक भूख नहीं है और न नारी मात्र वासना-तृप्ति का साधन। कालिदास के सुन्दर शब्दों में नारी गृहिणी है, सचिव है, सखा है। पूर्ण रूप से जीवित संस्कृत रुचि का पुरुष नारी के रमणीत्व के साथ उसकी इन सब छवियों को देखता-अनुभव करता है। छायावादी कवि ऐसा नहीं कर पाता इसका कारण उसकी अपूर्ण जीवनी-शक्ति अथवा अर्ध-विकसित व्यक्तित्व है—जो वयःसन्धि के बाद बढ़ना बन्द कर देता है। नारी और प्रेम में ही नहीं, जीवन के किसी भी कक्ष में छायावादी का अन्तरंग प्रवेश नहीं है; वह न शिशु को समग्रता में देख पाता है न प्रकृति को; उसके प्रकृति-चित्र अधूरे और प्रणय-निवेदन वेग-हीन है। 'हेरी मैं तो प्रेम दिवानी मेरा दरद न जाने कोय' जैसी पंक्तियाँ छायावाद में आकाश-कुसुम-सी अलभ्य हैं और शेली के "पश्चिम प्रभंजन" तथा वर्डसवर्थ के "इन्द्रधनुष" और "कोयल" जैसी आवेग एवं उल्लासपूर्ण गीतियाँ भी दुर्लभ ही हैं। वस्तुतः छायावादी कवि स्वस्थ जीवनानुभूति से पलायन करके हवाई, धुँधली, आडंबरपूर्ण और नीरवझंकारभरी कल्पना में विश्राम करना चाहता है।

महादेवी जी ने शिकायत की है कि जहां प्रगतिवाद (यथार्थवाद?) के जन्म के साथ ही आलोचक 'जन्म कुण्डली' बना-बना कर उसके

चक्रवर्तित्व की घोषणा में व्यस्त हो गए' वहाँ छायावाद को 'शैशव में कोई सहृदय आलोचक नहीं मिल सका।' अवश्य ही प्रारम्भ में छायावाद का विरोध हुआ था, पर प्रगतिवाद का भी विरोध न हुआ हो, ऐसा नहीं है। किन्तु छायावाद के जन्म के साथ उसके समर्थक पैदा न हुए हों, यह नहीं; 'पल्लव' और 'परिमल' का प्रकाशन के साथ काफी स्वागत हुआ था। और कुछ दिनों बाद तो, जैसा कि महादेवी जी ने स्वयं संकेत किया है, छायावाद के काफी "भक्त" पैदा होने लगे। शुक्ल जी के "रहस्यवाद" के वक्तव्य में ऐसे भक्तों के उच्छ्वसित उद्‌गारों के नमूने मिल सकेंगे। किन्तु कोई काव्य-साहित्य अपनी सचाई और प्राणवत्ता के बल पर ही खड़ा हो सकता है, हलकी रुचि के भक्तों की स्तुति-उपासना से नहीं; इसका प्रमाण स्वयं छायावाद का इतिहास है। दूसरे 'वादों' के अन्ध भक्त भी उससे शिक्षा ले सकते हैं।

हमारी धारणा है कि श्रेष्ठ काव्य-साहित्य जीवन के निकट सम्पर्क, उसके गहरे परिचय में, उद्‌भूत होता है; कालिदास और भवभूति, सूर और तुलसी का साहित्य ऐसा ही है। जहाँ तक प्रगतिवाद इस मान्यता पर जोर देता है, हम उसके साथ हैं; उसके आगे कलाकार की दृष्टि और चिन्तन पर प्रतिबन्ध लगाने के पक्षपाती हम नहीं है।

परिशिष्ट (ग)

शुक्लजी और छायावाद

यह प्रायः सभी स्वीकार करते हैं कि पं० रामचन्द्र शुक्ल बहुत उच्च कोटि के आलोचक थे। श्रेष्ठ आलोचक किसे कहते है ? हमने अन्यत्र कहीं लिखा है कि आलोचना-शक्ति के तीन मुख्य अवयव हैं, अर्थात्—(१) कला-कृतियों के रस-ग्रहण की क्षमता; (२) कृति-विशेष को रसमय अथवा नीरस बनानेवाले तत्त्वों का बौद्धिक निरूपण करने की शक्ति; और (३) मूल्यांकन के व्यापक दृष्टिकोण या मानदण्ड की चेतना। शुक्ल जी में ये तीनों शक्तियाँ न्यूनाधिक मात्रामें वर्त्तमान थीं, पहली दो कुछ अधिक और, शायद, तीसरी कुछ कम। कुल मिलाकर वे एक असाधारण समीक्षक थे।

ऊपर का मत केवल हमारा ही नहीं है। श्रीनन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार 'साहित्य-समीक्षक की हैसियत से सबसे बड़ी बात शुक्ल जी में यह नहीं है कि उन्होंने उच्चतर काव्य को निम्नतर से अलग किया, बल्कि उन्होंने वह ज्ञान दिया कि हम भी उस अन्तर को पहचान सकें।.........तुलसी, जायसी और सूर की समीक्षाओं द्वारा उन्होंने हिन्दी आलोचना को सुदृढ़ भित्ति पर स्थापित किया।' (हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ ६३) यह वक्तव्य समालोचक शुक्लजी की व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक दोनों शक्तियों का संकेत करता है। श्री नगेन्द्र ने लिखा है—'शुक्ल जी की प्रतिभा अपरिमेय थी। उनकी दृष्टि में अद्भुत गहराई, पकड़ में गजब की मजबूती, और प्रतिपादन में अपूर्व प्रौढ़ता थी।' (विचार और अनुभूति, पृ० १०१)

यहां एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है,—इतनी उच्च कोटि के आलोचक होते हुए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक हिन्दी साहित्य (अर्थात सृजनात्मक साहित्य) को कहाँ तक प्रभावित किया, वर्तमान हिन्दी के कलाकार अथवा कवि कहाँ तक उनकी प्रतिभा से

लाभान्वित हो सके ? इस प्रश्न पर विचार करने से एक विचित्र परि-स्थिति सामने आती है, वह यह है कि जहाँ आलोचक शुक्ल जी का प्रायः सभी विचारशील साहित्य-प्रेमियों ने लोहा माना वहाँ उनके समकालीन कवियों पर उनका विशेष प्रभाव न पड़ा। कहा जा सकता है कि कवि अथवा कलाकार आलोचकों से प्रभावित होकर सृष्टि नहीं करते। यह ठीक है, यद्यपि अधिकांश कलाकार महान् आलोचकों से अप्रभावित नहीं रहते। वस्तुस्थिति यह है कि समर्थ आलोचक परोक्ष रूप में, पाठकों की रुचि एवं मूल्यांकन के नियन्त्रण द्वारा, समसामयिक लेखकों को प्रभावित करता है। आश्चर्य की बात यह है कि शुक्लजी इस परोक्ष रूप में भी समकालीन छायावादी काव्य और उसके मूल्याङ्कन को प्रभावित नहीं कर सके। इसका यह मतलब नहीं कि छायावाद की अलोचना में शुक्लजी को साथी या अनुयायी नहीं मिले; किन्तु ये अनुयायी और साथी प्रायः उनलोगों में मिले जिनकी साहित्यिक मनोवृत्ति युग के अनुकूल नहीं थी और जो अपेक्षाकृत पुरानी रुचि एवं विचारों के थे।

किन्तु स्वयं शुक्लजी के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वे आधुनिक विचार-धाराओं से अनभिज्ञ थे। नगेन्द्र के शब्दों में उन्होंने 'पाश्चात्य एवं पौर्वात्य साहित्यका विवेचनात्मक अध्ययन किया था'। वे पश्चिम के डा० रिचर्ड्स जैसे नवीनतम समीक्षक-विचारकों से सुपरिचित थे। साथ ही—हम फिर नगेन्द्र को उद्धृत कर रहे हैं—'उन्होंने जो छायावाद पर प्रहार किये वे काफी समझ-बूझकर किये।' फिर क्या कारण था कि उनके द्वारा की गई छायावाद की आलोचना लोगों को ग्राह्य न हुई और उसका छायावाद की प्रगति पर प्रायः कुछ भी प्रभाव न पड़ा ? पिछले दशाब्द में छायावाद की जो अवनति हुई है उसका मुख्य कारण प्रगतिवादियों का विरोध है, न कि शुक्लजी की आलोचना। (यह परिस्थिति इस बात को सिद्ध करती है कि शक्तिपूर्ण आलोचना कलाकारों को अप्रभावित नहीं छोड़ती !) शुक्लजी की इस प्रभावहीनता का क्या कारण था ? क्या इसका कारण शुक्लजी की कोई गम्भीर कमी थी, अथवा तत्कालीन

काव्य के समर्थकों की अगुणग्राहिता ?

क्या छायावादी काव्य के अनुशीलन में शुक्लजी की अपूर्व रस-ग्राहिता, उनकी गम्भीर और पैनी अन्तर्दृष्टि, फेल कर गई थी ? अथवा वे नूतन काव्य के प्रति अकारण रुष्ट या अनुदार थे ? हमारी समझ में ये दोनों ही व्याख्यायें ठीक नहीं हैं। शुक्लजी उन व्यक्तियों में थे जो हिन्दी के सर्वांगीण विकास के लिये नितान्त उत्सुक ही नहीं, प्राणपण से प्रयत्नशील भी थे; और यदि वे छायावाद से 'मरते दम तक समझौता न कर सके' तो इसका कारण यही था कि उनकी रस-ग्राहिणी वृत्ति को उसमें गम्भीर कमियाँ दीख पड़ती थीं।

शुक्लजी अपने समसामयिक काव्य-साहित्य एवं तत्सम्बन्धी आलोचना को विशेष प्रभावित नहीं कर सके, इसके हमारी समझ में तीन मुख्य कारण थे:—

(१) शुक्लजी के प्रतिपक्ष में विश्व-विश्रुत, नोबिल-पुरस्कार-विजेता, रवीन्द्रनाथ खड़े थे। राबीन्द्रिक काव्य की, जिसके अनुकरण में छायावाद का जन्म हुआ था, ख्याति और छाया के बिना वह शुक्ल जी के विरोध को सहकर खड़ा रह सकता, इसमें सन्देह है। उस काल के हिन्दी-साहित्यिकों में शुक्लजी ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे जो रवीन्द्र के रहस्यवाद में बह नहीं गए और बराबर 'लोकपक्ष' में 'अर्थभूमि के विस्तार' का उपदेश करते रहे। जब कतिपय पश्चिमी साहित्य-विशारदों की भाँति रवीन्द्र ठाकुर ने कहा कि 'अब महाकाव्य लिखने का ज़माना नहीं है' तो अल्प-विकसित नवीन हिन्दी साहित्य के लेखकों का उनकी हाँ में हाँ मिलाना आश्चर्यजनक न था; आश्चर्य की बात यह थी कि उस समय भी शुक्ल जी प्रबन्ध-काव्य की श्रेष्ठता पर गौरव देते रह सके—और युग की समन्वित आलोचना-शक्तियों के विरुद्ध होने के कारण यह गौरव और भी अधिक बल से सम्पन्न किया गया।

(२) शुक्लजी की असफलता का दूसरा कारण उनकी आलोच-नाओं का मिश्रित रूप था: उनके छायावाद-सम्बन्धी विवेचनों में सत्य और मिथ्या का संकुल मिश्रण है। मिथ्या तत्व एकाङ्गी वादों के रूप में

आया है, वे वाद जिनका स्वीकार महाकवियों अथवा उनके काव्य को समझने के लिए आवश्यक नहीं है। संक्षेप में, शुक्ल जी की छायावाद-सम्बन्धी आलोचनाएँ दो प्रकार की हैं; एक तो वे जो काव्य के प्रकृत रूप को लेकर चलती हैं, और ऐसे काव्य की दृष्टि से छायावाद की कमियों का निर्देश करती हैं, और दूसरी वे जो छायावादी काव्य के पोषक वादों को लेकर उनके विरुद्ध नए वादों को आधार बनाकर अग्रसर होती हैं। इन दूसरी कोटि की आलोचनाओं को, जिनका सम्बन्ध काव्य की प्रकृति से प्रायः नहीं है, हम साम्प्रदायिक कह सकते हैं।

(३) दुर्भाग्यवश, शुक्ल जी की यह साम्प्रदायिकता प्राचीन परम्पराओं से भी सम्बद्ध हो गई। इसका फल यह हुआ कि वे तत्कालीन लेखकों को, जो हिन्दी काव्य में क्रान्तिका सन्देश लाए थे,परम्परावादी के रूप में दिखाई पड़े। रसवाद और उसकी पदावली के पक्षपात ने उन्हें इस सम्बन्ध में और भी अधिक ग़लतफ़हमी का शिकार बन जाने दिया। आश्चर्य की बात है कि साम्प्रदायिक रहस्यवाद के कड़े समीक्षक होते हुए भी शुक्लजी स्वयं साम्प्रदायिक ढंग की आलोचना में फँस गए। यह साम्प्रदायिकता और परम्परावाद कहीं-कहीं बहुत स्थूल हो गया है। उदाहरण के लिए उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि भारतीय भक्ति-काव्य अथवा भक्ति-पद्धति रहस्यवाद का आधार लेकर नहीं चली और कबीर आदि का रहस्यवाद विदेशी वस्तु थी। किन्तु क्या विदेशी होने से ही रहस्यवाद हेय हो गया? आज के युग में यह मनोवृत्ति संकीर्णता-सूचक मालूम पड़ती है। इसी प्रकार शुक्ल जी की यह सिद्ध करने की लम्बी चौड़ी कोशिश कि अज्ञात अथवा अरूप के प्रति प्रणय-निवेदन नहीं हो सकता, उनकी बात सुनी जाने में बाधक सिद्ध हुई। 'जगत का व्यक्त प्रसार ही भाव-संचरण का वास्तविक क्षेत्र है। इससे अलग मनुष्य-कल्पना की कोई वास्तव सत्ता नहीं, वह असत्य है'—शुक्लजी के इस मन्तव्य में सत्यका काफी अंश है, परन्तु उसे उसके मिथ्यांश से अलग रखना कठिन काम है। शुक्लजी के विरोधियों ने उक्त मन्तव्यके सत्यांश को देखने की

चेष्टा नहीं की, यह उन्हीं का दोष नहीं था।

यह अनिवार्य था कि शुक्लजी के विरोधी और छायावाद के समर्थक उनकी इन गलतियों से लाभ उठाते। उनके लिये यह सरल हो गया कि वे शुक्लजी की ऐसी धारणाओं की ओर संकेत एवं उनका सरलता से निराकरण करके यह कह सकें कि शुक्ल जी नें छायावादी काव्य को समझने में भूल की है और उनकी तत्सम्बन्धी आलोचनाओं का विशेष महत्व नहीं है।

किन्तु यहीं छायावादी युग के साहित्यिकों से भूल हुई है। शुक्ल जी की विवेचना भले ही कहीं-कहीं अभीष्ट सीमा लाँघ गई हो, पर उनकी रसग्राहिता कभी कुण्ठित नहीं हुई, और यदि छायावादी कवि तथा आलोचक उनकी विविध समीक्षाओं पर ज्यादा ध्यान देते तो हिन्दी साहित्य को ज्यादा लाभ होता। तब छायावाद-युग में अधिक सप्राण काव्य सृष्टि होती और उसका ऐसा नाटकीय पतन भी न होता। बात यह है कि जहाँ जहाँ शुक्लजी ने छायावाद को प्रकृत काव्य की कसौटी पर कसने की चेष्टा की है, वहाँ-वहाँ उनकी आलोचनाएँ नितान्त मार्मिक और प्रकाश देनेवाली हुई हैं। उनकी ऐसी आलोचानाएँ हमारी अपनी धारणाओं के बहुत निकट हैं। खेद यही है कि अपनी छायावाद सम्बन्धी समीक्षा के इस पहलू को शुक्लजी ने संकेतित ही किया, पल्लवित नहीं। हमारा विश्वास है कि उनकी ये संकेतित आलोचनाएँ छायावाद की प्रकृत कमजोरियों का जितना सफल उद्घाटन कर सकी हैं उतना न तो "काव्य में रहस्यवाद" की सैद्धान्तिक समीक्षाओं में हो सका है और न आधुनिक प्रगतिवादियों के कट्टरता-मूलक जिहाद में।

छायावाद की प्रकृत आलोचना में शुक्ल जी ने जिन तीन-चार बातों पर जोर दिया है उनका महत्व आज भी अक्षुण्ण है। अतः उनका उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। छायावाद के समर्थकों ने (और उनमें महादेवी जी भी सम्मिलित हैं) इन आलोचनाओं का उत्तर देने की विशेष चेष्टा नहीं की। यह परिस्थिति जहाँ इस बात का प्रमाण है कि ये आलोचनाएँ आवश्यक गौरव, स्पष्टता एवं

चिन्तनात्मक आधार के साथ नहीं रखी गई वहाँ वह इस बात का भी निदर्शन है कि अभी तक हिन्दी-आलोचना विश्लेषणात्मक सूक्ष्मताओं से बचकर चलना चाहती है, और अपेक्षाकृत स्थूल नैतिक-राजनैतिक और कभी-कभी दार्शनिक वादों को महत्त्व देने की अभ्यस्त है। शुक्लजी की अधिक महत्त्वपूर्ण किन्तु कम प्रसिद्ध आलोचनाएँ निम्न लिखित हैं:—

(१) प्रथमतः शुक्ल जी का कहना है कि छायावादी गीतियों में अन्विति का अभाव है। हमें भय है कि हिन्दी-पाठकों ने छायावादी काव्य की इस कमी के आयाम और विस्तार का कभी ठीक अनुमान नहीं किया। स्वयं शुक्ल जी ने भी विस्तृत विश्लेषण द्वारा उसे हृदयंगम कराने का प्रयत्न नहीं किया। उक्त दोष का कारण, उनकी सम्मति में, भावों एवं पदावली के अपहरण की प्रवृत्ति है (दे० रहस्य-वाद, पृ० ७३)। किन्तु यह प्रवृत्ति साधारण कवियों एवं छायावाद के प्रारम्भिक काल में ही मौजूद हो सकती थी। इसके विपरीत "असामंजस्य" नाम की चीज छायावाद के श्रेष्ठ कवियों की प्रौढ़तम रचनाओं में ओतप्रोत है। अतः उक्त कमी का अधिक विशद विश्लेषण अपेक्षित था; इसलिए भी कि वह छायावादी अस्पष्टता का प्रबल उथवा अन्यतम हेतु थी।

(२) छायावादी काव्य से शुक्ल जी की दूसरी महत्वपूर्ण शिकायत यह हैं कि उसमें भावनात्मक सचाई (Sincerity) की कमी या अभाव है। इस सम्बन्ध में उन्होंने काफी कड़ी बातें कही हैं, जैसे— 'जगतरूपी अभिव्यक्ति से तटस्थ, जीवन से तटस्थ भाव भूमि, कल्पना की झूठी कलाबाजी भावों की नकली उछलकूद और वैचित्र्य-विधायक कृत्रिम शब्द-भंगी—जो आधुनिक रहस्यवादियों में अभिव्यञ्जना-वादियों (Expressionists) के प्रभाव से आई है—वर्ड्सवर्थ और शेली की कविता का लक्षण नहीं है'। यह उद्धरण "रहस्यवाद" का है। "इतिहास" के नए संस्करण में इसी तथ्य की ओर इंगित करते हुए वे कहते हैं— 'रहस्य भावना और अभिव्यंजन पद्धति पर ही प्रधान लक्ष्य हो जाने से भावानुभूति तक कल्पित होने लगी।'

(३) दूसरी शिकायत से ही सम्बद्ध शुक्ल जी की यह आलोचना है कि छायावादी काव्य में हवाई कल्पना का अतिरेक है। इस कमी को उन्होंने "कल्पना का कलापूर्ण और मनोरंजक नृत्य"; "कल्पना की'कलाबाजी", आदि नामों से अभिहत किया है। वस्तुतः छायावादी काव्य का मूल्यांकन जिस केन्द्रगत समस्या के समाधान या स्पष्टीकरण पर निर्भर करता है वह यह है—काव्य में नियोजित कल्पना का क्या स्वरूप, स्थान और मर्यादा है? रसज्ञ तथा पैनी दृष्टि के शुक्लजी को इसका आभास न हुआ हो ऐसा नहीं; वस्तुतः उन्होंने अनेक स्थलों में जितनी तरह से इस समस्या पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है वह गहरे आश्चर्य और प्रशंसा का भाव जगानेवाला है। हिन्दी की उस अल्प-विकसित अवस्था में— जब माननीय द्विवेदी जी जैसे लेखक संस्कृत कवियों की सूझों की दाद दिया करते थे—एक नितान्त उच्च कोटि की रसग्राहिणी प्रतिभा ही ऐसे प्रश्नों से उलझने का उपक्रम कर सकती थी। (इस दृष्टि से शुक्ल जी का स्थान कालरिज जैसे इने-गिने साहित्य-मीमांसकों के साथ है।) खेद की बात है कि शुक्ल जी की आलोचना के इस अंश पर जितना ध्यान दिया जाना चाहिए था वह नहीं दिया गया और छायावाद के समर्थकों ने उसकी उपेक्षा की। शुक्ल जी ने लिखा था—'मनमाने आरोप, जिनका विधान प्रकृति के संकेत पर नहीं होता, हृदय के मर्म स्थल का स्पर्श नहीं करते, केवल वैचित्र्य का कौतूहल मात्र उत्पन्न कर के रह जाते हैं। छायावाद की कविता में बहुत-सा अप्रस्तुत विधान मनमाने आरोप के रूप में भी सामने आता है।'(इतिहास, पृ० ८१२-१३) आश्चर्य की बात है कि छायावाद के किसी सामर्थक ने शुक्ल जी की इस नितान्त महत्वपूर्ण समीक्षा का उत्तर देने की कोशिश तक नहीं की।

(४) शुक्ल जी की आलोचना का चौथा पहलू यह है कि छायावादी काव्य प्रायः एक संकीर्ण घेरे में घूमता रहा; उसका नाना अर्थ-भूमियों में विस्तार नहीं हुआ। उन्होंने कुछ छायावादी कवियों के रहस्य-वाद को साम्प्रदायिक अर्थात रूढ़िवादी भी कहा है। इसका मतलब

यह है कि उस काव्य के संकेत उन्हीं को हृदयंगम और ग्राह्य होंगे जो विशेष दार्शनिक रूढ़ियों को स्वीकार करते हैं। (सम्भवतः निराला जी की 'गीतिका' की रचनाएँ इसी कोटि की हैं।) रसानुभूति के लिए यह मानकर चलना बिलकुल आवश्यक नहीं होना चाहिए कि अद्वैत अथवा कोई दूसरा वाद एक ऊँचा और सर्वस्वीकृत दर्शन है। इसका मतलब यह हुआ कि छायावादी काव्य व्यापक अर्थ में रहस्य-वाद भी नहीं, लौकिक जीवन से तटस्थ तो वह है ही। वस्तुतः प्रकृत रहस्यवाद लौकिक अनुभूति से बाहर की चीज नहीं क्योंकि प्रेम एवं एकतानता की भावना लोक-संवेदना का सुलभ अंग है; और यदि छायावादी काव्य के "साधारणीकरण" में कठिनाई होती है तो उसका वास्तविक कारण अनुभूति की अलौकिकता न होकर उसकी कृत्रिमता और व्यंजनागत अशक्ति ही समझनी चाहिए।

शुक्लजी की अन्तिम आलोचना उनके द्वारा विशेष ग्राह्य अथवा वांछनीय रूप में व्यक्त नहीं की गई। छायावादी युग प्रजा-तंत्र के न्यूनाधिक प्रसार एवं व्यक्ति के स्वातंत्र्य तथा महत्त्व-ख्यापन का युग था, अतः उस काल में वैयक्तिक चेतना और संवेदना पर गौरव दिया जाना अनिवार्य था। फलत; यह युग आत्मनिष्ठ प्रगीत कविता के लिये अधिक उपयुक्त था। शुक्लजी ने युग की इस मांग या आवश्यकता को देखने से इनकार किया और वे अन्त तक प्रगीत काव्य को अनादर की दृष्टि से देखते रहे। अवश्य ही इसका एक कारण साहित्यिक आत्मनिष्ठता के दावेदारों का अतिवाद था-वे कहने लगे थे कि अब प्रबन्ध-रचना की सम्भावना और आवश्यकता ही नहीं रह गई है; किन्तु साथ ही यह मानना पड़ेगा कि शुक्लजी की सांस्कृ-तिक दृष्टि सदोष अथवा सीमित थी; वह उनकी शुद्ध साहित्यिक दृष्टि की तुलना में कहीं कम विकसित थी। विशुद्ध गीत-काव्य का विषय कवि के अपने मनोभाव एवं प्रतिक्रियाएँ होती हैं; उस काव्य की महत्ता कवि के आन्तरिक व्यक्तित्व की जटिलता एवं महत्ता पर निर्भर करती है। अतः साधारण व्यक्तित्व वाला कवि इस क्षेत्र में महत्व-शाली सृष्टि नहीं कर सकता। महादेवीजी ने कहीं लिखा है कि आज

का कलाकार 'अपनी प्रत्येक सांस का इतिहास लिख लेना चाहता है', किन्तु किसी भी मनुष्य के लिये यह समझना कि उसकी प्रत्येक सांस महत्वपूर्ण है अहन्ता की पराकाष्ठा है; शायद स्वयं विधाता के लिये भी ऐसा दावा अतिशयोक्ति प्रतीत होगा! इसके विपरीत साधारण व्यक्तित्ववाले कवि भी मानव-जीवन को अपनी वाणी का विषय बना कर महनीय सृष्टि कर सकते हैं। अतः यदि शुक्ल जी इतना मात्र कहते कि प्रगीत काव्य की सम्भावनाएँ सीमित हैं तो वे औचित्य के दायरे में रहते। किन्तु इसके विपरीत उन्होंने यह कहना चाहा कि गीत-काव्य का साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान नहीं है जो भ्रामक था। विशेषतः रहस्यवाद के क्षेत्र में, जहाँ प्रेमास्पद अनन्त सौन्दर्य एवं रस का अधिष्ठान परिकल्पित होता है, गीत काव्य की सम्भावनाएँ बहुत बढ़ जाती हैं। अवश्य ही वहाँ यह शर्त रहेगी कि कवि की रहस्य-भावना वास्तविक एवं जीवन्त हो।

यहाँ यह कहना भी अप्रासंगिक न होगा कि शुक्लजी विशुद्ध गीत काव्य जो आत्मनिष्ठ होता है और बहिर्निष्ठ प्रबन्धेतर काव्य में जिसकी रूपरेखा मुक्तक जैसी होती है प्रायः भेद नहीं देख सके। उदाहरण के लिए रीतिकालीन काव्य प्रबन्धरूप न होते हुए भी आत्मनिष्ठ नहीं है, और उसकी आधुनिक गीतकाव्य से कोई समानता नहीं है। अमरुक और बिहारी दोनों ही वर्ण्य-विषय, शैली आदि की कोटि के कवि नहीं हैं और न वे पन्त अथवा रवीन्द्र के ही समान-धर्मा हैं।

शुक्लजी की सांस्कृतिक दृष्टि की आश्चर्यजनक सीमितता एक दूसरी दिशा में भी दिखाई देती है—वे आधुनिक काव्यगत भावनाओं के ऐतिहासिक महत्त्व को बिलकुल नहीं समझ सके। वे यह नहीं देख सके कि छायावाद, अपनी सब कमियों के बावजूद, 'आधुनिक' मनोवृत्ति का प्रतीक था। मालूम पड़ता है कि उन्हें द्विवेदी युग की स्थूल पौराणिक धर्म-भावना से बिलकुल विरक्ति न थी, और वे यह समझने में नितान्त असमर्थ थे कि आज के संशयशील युग में अवतारवाद तथा सगुणनिष्ठ भक्ति-काव्य के लिए स्थान नहीं रह

गया है। वास्तव में आज की सभ्यता और संस्कृति पूर्ण अर्थ में लौकिक है; उसका केन्द्र मनुष्य है, ईश्वर नहीं। छायावादी काव्य ने शिक्षित लोगों को आकर्षित किया इसका एक प्रधान कारण उसका लौकिक स्वर था। छायावादी रहस्यवाद वास्तव में लौकिक प्रेम-काव्य ही है। वह पाठकों से विशेष धार्मिक भावना या विश्वास की अपेक्षा नहीं करता, इसलिए वह शंकाशील एवं अविश्वासी पाठकों के लिए भी अग्राह्य नहीं है। इसीलिए हमें महादेवी जी द्वारा प्रस्तुत किया हुआ छायावाद का मण्डन और व्याख्या हास्यास्पद प्रतीत होते हैं।

"इतिहास" में कहीं-कहीं शुक्ल जी ने छायावाद की प्रशंसा भी की तो उसकी लाक्षणिक शैली को लेकर; यह भी उनकी सांस्कृतिक रुचि की परिसीमा और परम्परा-मग्नता का निदर्शन समझना चाहिए। अन्यत्र शुक्ल जी ने स्वयं ही कवि देव साथ के 'अभिधा'—मूलक काव्य की श्रेष्ठता स्वीकार की है।

अन्त में हम कहें कि अपनी सब न्यूनताओं के होते हुए भी विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से (अर्थात उस दृष्टि से जो साहित्य में मुख्यतः रस और शक्ति की खोज करती है) शुक्ल जी द्वारा प्रस्तुत तथा संकेतित छायावाद की आलोचना अब तक की सर्वश्रेष्ठ आलोचना है; ठीक उसी प्रकार जिस तरह कि अपनी सब कमियों के बावजूद छायावादी काव्य हमारी भाषा में आधुनिक युग का प्रतिनिधि काव्य है। शुक्ल जी की समीक्षा का सांस्कृतिक पक्ष भले ही कमजोर हो, किन्तु विशुद्ध साहित्यिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से छायावाद का कोई भी दूसरा समीक्षक, फिर चाहे वह उसका समर्थक हो या विरोधी, उनका समकक्ष होने का दावा नहीं कर सकता।